CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

12·5

आचार्य हेमचन्द्र

का

अपभ्रंश व्याकरण

अनुवादक
प्रो० शालिग्राम उपाध्याय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5018

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15/81

आचार्य हेमचन्द्र

का

अपभ्रंश व्याकरण

अनुवादक

प्रो० शालिग्राम उपाध्याय
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत) साहित्य शास्त्राचार्य

प्रकाशक की स्नेह भेंट।

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी
१९६५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक—
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० ब० 108,
कचौड़ीगली वाराणसी ।

मूल्य 5.50

मुद्रक—
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस (प्रा०), लिमिटेड
वाराणसी शाखा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

	पृष्ठ
१—वक्तव्य	१–२
२—हेमचन्द्र और उनके अपभ्रंश व्याकरण की विशेषताएँ	३–१३
३—अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पदों का साहित्यिक मूल्यांकन	१३–२४
४—अपभ्रंश व्याकारणोद्धृत पद्यों का स्रोतः तुलनात्मक अध्ययन	२५–३२
५—अपभ्रंश साहित्य पर एक दृष्टि	३२–४६
६—सानुवाद मूल	१–७६
७—सूत्रानुक्रमणिका	७७–७९
८—उदाहरणगत दोहादि की अनुक्रमणिक	७९–८२
९—अपभ्रंश शब्दावली की क्रमानुसार सूची	८३–११९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्तव्य

हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरण का दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। प्रथम संस्करण में परिस्थिति वश शब्दसूची, उदाहृत पद्य-सूची, सूत्रानुक्रमणिका आदि कुछ भी नहीं दे सका था। इस संस्करण में सूचीपत्र के साथ हेमचन्द्र और उनके अपभ्रंश-व्याकरण की विशेषताएँ, पद्यों का साहित्यिक मूल्यांकन, अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों का स्रोत: तुलनात्मक-अध्ययन एवं 'अपभ्रंश साहित्य पर एक दृष्टि' शीर्षक चार महत्त्वपूर्ण निबन्ध जोड़ दिए गए हैं।

सिद्धहेम-शब्दानुशासन का प्राकृत भाग अष्टम अध्याय के प्रथम पाद से प्रारंभ होता है। चतुर्थ पाद के ३२८ सूत्र तक आर्ष (महाराष्ट्री प्राकृत) शौरसेनी, मागधी, पैशाची और चूलिका पैशाची की विशेषताओं की चर्चा है। ३२९ से ४४८ संख्यक सूत्र तक अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। (सच तो यह है, जैसा कि पिशेल भी मानता है ४४६ सूत्र तक ही अपभ्रंश की विशेषताएँ हैं, शेष दो सूत्रों में साधारण बातें दी गयी हैं।)

प्राकृत वैयाकरणों में हेमचन्द्र का अपभ्रंश व्याकरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की ऐसी कोई भी प्रति मुझे नहीं मिली जिसे पूर्ण व्यवस्थित कह सकूँ। मेरे सामने जो आधार प्रति है, वह कुछ व्यवस्थित लगती है। दोहों के अर्थ और सूची-पत्र भी इसमें संलग्न हैं पर इस पुस्तक के सम्पादक का नाम नहीं लिखा है।

इस पुस्तक में कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। अपभ्रंश भाग में ३८६।१ वाला उदाहरण ४११ सूत्र के उदाहरण में भी आया है किन्तु ३८६।१ में 'जहिँ' सानुनासिक है और ४११ में 'जहिं' सानुस्वार है। ४०१।३ का उदाहरण 'निरुवम रसु पिएं पिअवि' ४४४ सूत्र के उदाहरणों के अंत में 'निरुवम रसु पिएं पिएवि जणु' आया है। ४०६ संख्यक सूत्र में सानुस्वार 'उं' के उदाहरण में सानुनासिक उदाहरण दिये गये हैं,—'जाउँ' 'ताउँ' जब कि मान्यता के अनुसार होना चाहिए 'जाउं' 'ताउं'। सूत्र ३६७ में 'काइं न दूरे देक्खइ' उद्धृत है और इसे ३३९।१ में उद्धृत बताया गया है जब कि यह उदाहरण ३४९।१ में आया है। सूत्र ४३४ में जो उदाहरण 'दिक्ख अम्हारा कन्तु' दिया गया है वह ३४५ का उद्धरण है किन्तु ३४५ में 'देक्खु अम्हारा कन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छपा है। ४२२।४ में 'दिवेंहिँ' और वही ४२२।१३ के बाद 'दिवेंहिँ' के रूप में उद्धृत है। ३७७ का 'णवर' ४०१।५ में 'नवर' होकर उद्धृत है। ४२०।३ में 'पच्चलिउ' आदेश बताकर 'पच्चलिओ' का उदाहरण दिया गया है। ३७७ वाला 'पिअ' ४०१।५ में 'प्रिय' होकर उद्धृत है। ३७९।२ का 'पिएण' ३९८ में 'प्रियेण' प्रिएण' के रूप में उद्धृत है। ३५०।२ का 'फोडेन्तिजे‍ँ' और 'वालहें' ३६७।२ में 'फोडेन्तिजे‍ँ' 'वालहें' हो गये हैं। ३७०।३ का 'पइँ मइँ वेहिँ वि' ३७७ में 'पइं मइं वेंहि वि' हो गया है। ३७७ में जो [३७०।४] और [३७१।३] उद्धृत किये गये हैं वे क्रमशः [३७०।३] और [३७०।४] हैं।

इस प्रकार ह्रस्व-दीर्घ, अनुस्वार-अनुनासिक और तत्सम-तद्भव में व्यत्यय है और कहीं-कहीं प्रूफ सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण संख्याएँ भी दी गयी हैं।*

ध्यान देने की प्रमुख बात यह है कि अपभ्रंश भाषा में पञ्चमवर्ण के स्थान पर अनुस्वार वाली प्रवृत्ति अधिक है। किन्तु हेमचन्द्र के अधिकतर उद्धरणों में पञ्चमवर्ण ही हैं, अनुस्वार नहीं। 'एम्वहिं' जैसे शब्दों में तो 'म्' की सुरक्षा की गई है।

श्रीरामसिंह तोमर प्रभृति कुछ विद्वानों ने इसके प्रथम संस्करण की कुछ कमियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था और मैं भी यह महसूस कर रहा था। किन्तु इस संस्करण के लिए कुछ सुझाव मांगने पर मित्रों की ओर से कोई अन्य सुझाव पुस्तक के प्रेस में जाने तक नहीं प्राप्त हो सका। अतः विद्वानों के बहुमूल्य सुझावों का उपयोग अब अगले संस्करण में ही सम्भव प्रतीत होता है। इस संस्करण के प्रस्तुत करने में जिन विद्वानों अथवा जिनकी पुस्तकों का उपयोग हुआ है उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। इस पुस्तक को शीघ्रतापूर्वक प्रकाशन करने का श्रेय भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी के उत्साही व्यवस्थापक एवं प्रकाशक श्री किशोरचन्द जी को है। अतः वे धन्यवाद के विशेष पात्र हैं।

---

* पिशेल ने भी हेमचन्द्र के व्याकरण में आये नामों और सर्वनामों के आधार पर बताया है कि इतने अधिक अपने से पहले के विद्वानों के ग्रन्थों से बहुत सावधानी के साथ सहायता लेने पर भी हेमचन्द्र बड़ी मोटी-मोटी अशुद्धियों से अपने को बचा न सका। इसका कारण कुछ ऐसा लगता है कि मूल शुद्ध-ग्रन्थ उसके हाथ में नहीं लगे, बल्कि दूसरे तीसरे के हाथ से लिखे तथा अशुद्धियों से भरे ग्रन्थों से उसने सहायता ली (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ८०)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमचन्द्र और उनके अपभ्रंश व्याकरण की विशेषताएँ

हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई० तक) का प्रारंभिक नाम 'चंगदेव' था और जैन धर्म ग्रहण करने पर हेमचन्द्र हुआ। इसके पहले इनका नाम सोमचन्द्र भी था। ये सिद्धराज जयसिंह और उनके पुत्र कुमारपाल के यहाँ प्रतिष्ठित पंडित थे। ये कलिकाल-सर्वज्ञ कहे जाते थे। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि, काव्यानुशासन, छंदोऽनुशासन, देशीनाममाला, द्वयाश्रयकाव्य, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित और शब्दानुशासन आदि ग्रंथ लिखे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश या आंचलिक बोलियों तथा विभिन्न विषयों का इतना बड़ा विशेषज्ञ उस युग में और कोई नहीं दीखता। वह पाणिनि और सायण से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य को समझाने वाला वह उच्चकोटि का प्राध्यापक था।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हेमचन्द्र के तीन महत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। "हेमचन्द्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा, उधर का छूटा तो इधर बढ़ा लिया। अपने समय तक की भाषा का विवेचन कर डाला। यही हेमचन्द्र का **पहला महत्त्व** है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदल कर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया[१]।"

"अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएँ, पूरे छंद और पूरे अवतरण दिये हैं, यह हेमचन्द्र का **दूसरा महत्त्व** है।······अपभ्रंश के नियम यों समझ में न आते। मध्यम पुरुष के लिए 'पइं', 'शपथ' में 'थ' की जगह 'ध' होने से 'सवध' और 'मक्कड़घुग्घि' का अनुकरण प्रयोग बिना पूरा उदाहरण दिए समझ में नहीं आता[२]।"

तीसरा महत्त्व हेमचन्द्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है। उसने अपने संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य में अपने व्याकरण के उदाहरण भी दिए है तथा सिद्धराज

१—पुरानी हिन्दी पृ० १२९

२--वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयसिंह तथा कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्ट भौमक की तरह वह अपने सूत्रों के क्रम से चला है[१]।

याकोबी का विचार है कि हेमचन्द्र ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' के आधार पर अपना प्राकृत व्याकरण बनाया, जैसे भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनि के आधार पर अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी' तैयार की। मध्ययुग में वररुचि के सूत्र अकाट्य माने जाते थे और प्राकृत वैयाकरणों का मुख्य काम उनकी विस्तृत व्याख्या करना तथा उनमें क्या कहा गया है, इसकी सीमा निर्धारित करना ही था। हेमचन्द्र का वररुचि से वही संबंध है जो कात्यायन का पाणिनि से[२]। याकोबी ने अपने इस विचार को येनायेर लिटेराटूरत्साइटुंग (१८७६-७९७) में व्यक्त किया है। किन्तु पिशेल ने इस विचार का खण्डन किया है और ब्लौख द्वारा कृत इस विचार के खण्डन को भी मान्यता दी है। पिशेल का कथन है कि 'यह बात भी हम अधिकार के साथ और निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने वररुचि से नाम-मात्र भी लाभ उठाया है। संभवत: उसने लाभ उठाया हो, किन्तु यह बात प्रमाण देकर किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं की जा सकती। हेमचन्द्र की दृष्टि में चंड का ग्रन्थ रहा होगा[३]।

दण्डी के विचार से आभीरादिकों की बोली काव्य में अपभ्रंश कहलाती है किन्तु शास्त्रों में तो संस्कृतेतर को अपभ्रंश वह मानता है। एक 'गौ' से गावी, गोणी, गोपोतलिका अनेक अपभ्रंश के उदाहरण महाभाष्यकार ने भी दिए हैं। प्राकृत सर्वस्वकार मार्कण्डेय ने चार प्रकार की भाषाओं की चर्चा की है—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। भाषा—(प्राकृतभाषा) के अंदर उसने महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी (अर्ध मागधी भी मागधी में ही) पाँच भेद बताए हैं। उसने पाँच प्रकार की विभाषाओं—शकारी, चांडाली, शाबरी, आभीरिकी और शाक्की का उल्लेख किया है। इस प्रकार मार्कण्डेय आभीरिकी को विभाषाओं के भीतर मानता है। आद्री और द्राविडी को छोड़कर मार्कण्डेय ने सत्ताईस प्रकार की अपभ्रंशों की भी चर्चा की है, जिनमें 'आभीरी' भी है।

१—वही पृ० १३१

२—'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' (जर्मनी से हिन्दी अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी) पृ० ७७

३—वही पृ० ७७-७८ ('स्वराणां स्वरा: प्रयोऽपभ्रंशे' जैसे सूत्र प्राकृत प्रकाश में संभवत: बाद में जुटे)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किंतु उसने २७ प्रकार की अपभ्रंशों का खंडन कर नागर, व्राचड और उपनागर तीन प्रकार की अपभ्रंशों की मान्यता दी है। पिशेल का विचार है कि "मार्कण्डेय के अनुसार अपभ्रंश भाषाओं का तात्पर्य जनता की भाषाओं से है भले ही वे आर्य या अनार्य व्युत्पत्ति की हों।" किन्तु रामतर्कवागीश ने विभाषाओं को अपभ्रंश नाम से कहना उचित नहीं समझा। जनता द्वारा वास्तव में बोली जानेवाली बोली को उसने अपभ्रंश बताया। पिशेल ने रविकर के मत से प्राकृतमूलक और देशीमूलक दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख किया है। प्राकृतमूलक अपभ्रंश में प्राकृत के व्याकरण के नियमों का पूरा-पूरा पालन किया जाता है। देशी मूलक अपभ्रंश में जनता की बोली और मुहाविरों का उपयोग होता है।

प्राचीन मतों की समीक्षा करते हुए अपभ्रंश के संबंध में पिशेल ने बताया है कि 'अपभ्रंश का तात्पर्य उन बोलियों से है जिन्हें भारत की जनता अपनी बोलचाल के काम में लाती थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन अपभ्रंश बोलियों में बहुत प्राचीन समय से ही नाना प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ लिखी जाती थीं।[१]

यद्यपि अपभ्रंश प्राकृत का विकसित रूप है किंतु प्राकृत और अपभ्रंशमें अन्तर है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश में विभक्तियाँ अधिक घिस गई थीं, जिसकी चर्चा गुलेरी जी भी करते हैं। पुराने वाग्भट ने शुद्ध और मिश्रभेद से अपभ्रंश के दो भेदों की चर्चा की है। किन्तु रुद्रट ने देशभेद से अपभ्रंश के अनेक भेद बताए हैं। देश-भेद से विद्वानों ने अपभ्रंश के दो से अधिक भेद भी किये हैं। कोई दिशाओं के आधार पर भी भेद मानता है। देश-दिशा के भेद से अनेक प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं के होने के कारण हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में अनेक प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का आना अस्वाभाविक नहीं।

ध्रुं, त्रं (हेमचं० ८।४।३६०), तुध्र (३७२), प्रस्सदि (३६३), व्रोप्पिणु, व्रोप्पि (३९१), गृह्णन्ति, गृहेप्पिणु (३४१, ३९४ और ४३८) और व्रासु (३९९) जो कभी 'र' और कभी 'ऋ' से लिखे जाते हैं, ये दूसरी बोलियों के शब्द हैं और हेमचन्द्र ने इनके विषय में अपने ग्रन्थ (प्राकृत वाले) दूसरे सूत्रों में भी बहुत कुछ लिखा है। अपभ्रंश में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते

१—वही पृ० ३–६

२—वही पृ० ५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं जिनसे सिद्ध होता है कि यह भाषा सिंध से बंगाल तक बोली जाती थी। साहित्यिक अपभ्रंश प्राकृतमूलक अपभ्रंश है। 'इसकी ध्वनि के अनुसार स्वरों को दीर्घ और ह्रस्व करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है, जिसके कारण कवि महोदय चाहें तो किसी स्थान पर और अपनी इच्छा के अनुसार स्वरों को उलट-पुलट दें, चाहे तो अन्तिम स्वर को उड़ा ही दें, शब्दों के वर्णों को खा जायँ; लिंग, विभक्ति, एकवचन, बहुवचन आदि में उथल-पुथल कर दें और कर्तृ तथा कर्मवाच्य को एक दूसरे से बदल दें। आदि-आदि बातें अपभ्रंश को असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण और सरस बना देती हैं। अपभ्रंश भाषा की विशेषता यह भी है कि उसका सम्बन्ध वैदिक भाषा से है।[1]

अपभ्रंश भाषा में ऐसे बहुत शब्द हैं जिनका सम्बन्ध प्राकृत और संस्कृत (लौकिक) से है। किन्तु ऐसे भी बहुतेरे शब्द हैं जिनका सम्बन्ध इनसे नहीं जोड़ा जा सकता उनके मूल वैदिकसंस्कृत में प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश—'त्तण' (बहुत्तणहों तणेण) का मूल लौकिकसंस्कृत में नहीं वैदिकसंस्कृत में मिलता है। इसका सम्बन्ध वैदिक-'त्वन' से है। तृतीया बहुवचन का रूप—'एहिं' वैदिक—'एभिः' से निकला है। आज्ञावाचक 'होहि' वै० 'बोधि' से; 'एत्थ' वै०'इत्था' से, 'अम्हे' वै० 'अस्मे' से; 'दिवें—दिवें' वै० 'दिवै दिवै' से; अपभ्रंश 'किध' और 'किह' वै० 'कथा' से; अपभ्रंश आहों' वै० 'आसः' से, अप० 'साहु' वै० 'शाश्वत' से और अप०-'प्पि'-पि' एवं-'वि' वै०-त्वी' से निकले हैं। अपभ्रंश-'प्पिणु' वै०-त्वीनं' से निकला है।[2]

अब अपभ्रंश भाषा के नामरूपों और क्रियारूपों की चर्चा संक्षेप में की जाती है।

नाम-रूप-रचना (सुप् विभक्ति)

अपभ्रंश में संस्कृत एवं प्राकृत से घिसी आती हुई विभक्तियाँ भी हैं और कुछ ऐसे भी सम्बन्ध तत्त्व हैं जिन्हें आधुनिक विद्वानों ने परसर्ग कहा है। विकारी या अविकारी रूपों में शब्द के अंग या प्रातिपदिक के साथ जोड़ कर इनके द्वारा हिन्दी में भी विभक्तियाँ बनाई जाती हैं।

---

१ — वही पृ० ५९

२—दे० प्राकृत भा० का व्याकरण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1518

कर्त्ता के एकवचन में सं० रामः, प्रा० रामो, अपभ्रंश में 'रामु' उकारान्त और वह भी उड़ा तो 'राम' अकारान्त बस गया। जिसका प्रभाव व्रज अवधी आदि विभिन्न बोलियों पर भी पड़ा। 'दहमुहु भुवण भयंकरु' (हे० ३३१।१) में उकारान्त और अकारान्तदोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। इनके साथ ही प्राकृतवाली ओकारान्त प्रवृत्ति भी अपभ्रंश में मिलती है, वरिस सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउँ' (३३२।१)। इस ओकारान्त रूप को भी राजस्थानी, गुजराती आदि बोलियों में हम अक्षुण्ण या 'औ' के रूप में पाते हैं। यहाँ तक कि जो, सो सर्वनामों का प्रयोग तो इसी रूप में खड़ी-बोली में भी होता है।

अपभ्रंश में भी कर्त्ता के बहुवचन में काल्पनिक शून्य-विभक्ति दिखाई पड़ती है—'एइ ति घोडा', 'एइ ति निसिआ खग्ग' (३३०।४), 'गय लक्खें हिं घेप्पन्ति' (३३५।१)। ऐसा रूप अन्य बोलियों के साथ खड़ी बोली ने प्रमुख रूप से ग्रहण किया।

यही गति कर्मकारक की भी है। यहाँ भी निर्विभक्तिक प्रयोग या शून्य-विभक्ति और—'उ' विभक्ति दिखाई पड़ती हैं, 'जो नवि वालइ वग्ग' (३३०।४), 'मा करु दीहा-माणु' (३३०।२), 'पिअ जोअन्तिहें मुहकमलु' (३३२।२), 'सायरु उप्परि तणु धरइ' (३३४।१)। बहुवचन में भी 'फल लिहिआ भुञ्जन्ति' (३३५।१), 'सन्ता भोग जु परिहरइ' (३८९।१)।

'उ' विभक्ति अकारान्त शब्दों के अन्त में कभी-कभी स्वतंत्र या पृथक अस्तित्व रखती हुई दिखाई पड़ती है; बहिल्ल—'बहिल्लउ' (४२२।१), द्रवक्क—द्रवक्कउ (४२२।४), सो लेखडउ (४२२।६', कर्म के बहुवचन में कभी-कभी संस्कृत का—'आन्'—'आण' के रूप में मिलता है, यथा—'ताण गणन्तिउ अंगुलिउ'।

करण कारक के एक वचन में संस्कृत रामेण के समान-एणान्त रूप मिलते हैं, यथा—'पवसन्तेण', नहेण (३३३।१)। कभी-कभी 'ण' निकल जाता है पर उसकी अनुनासिकता की गंध रह जाती है। यथा—दुरुड्डाणें (३३७।१), अग्गिएँ, वाएँ (३४३।१), कालक्खेवें (३५७।३)। कभी-कभी अनुस्वार या अनुनासिक भी निकल जाता[१] है। यथा—सव्वङ्गे पइसीसु (३९६।४)। इका-

१—कभी-कभी 'मुख कमल' का 'मुह कमलि' इकारान्त रूप भी मिलता है। 'सुधिँ चिन्तिज्जइ माणु' (३९६।२) पाठभेद से 'सुधे' मिलता है, जो अधिक उपयुक्त लगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रान्त और उकारान्त शब्दों में 'ण' और अनुस्वार युक्त रूप मिलते हैं। यथा— 'अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अगिंग कज्जु' (३४३।२)।

करण के बहुवचन में वै०—एभिः का विकसित रूप— एहिँ' मिलता है। यथा—'अम्मीए सत्थावत्थेहिँ' (३९६।२)। 'एहिँ' से सिमट कर कभी-कभी—'इहिं' रूप भी हो जाता है। यथा—'अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि' (३५८।१) कहीं—हिँ रूप मिलता है। यथा,—'अङ्गहिँ अङ गु न मिलिउ हलि' (३३२।२); 'तं मेलवि सव्वहिँ पन्थिअहिँ (४२९।१)।

सम्प्रदान की विभक्तियाँ नहीं मिलतीं। सम्प्रदान और सम्बन्ध में मिश्रण हो गया है। सम्प्रदान के लिए भी सम्बन्ध की विभक्ति का प्रयोग होता है। हेमचन्द्र ने तादर्थ्य में प्रयुक्त होने वाले कुछ परसर्गों की चर्चा की है। यथा—'तउ केहिँ' 'अन्नहिँ रेसि' (४२५।१)

अपादान के एक वचन में—हे ँ रूप मिलता है। यथा,—वच्छहे ँ गृण्हइ फलइँ जणु' (३३६।१);—हे, यथा—'वालहे जाया विसमथण' (३५०।२)। 'भ्यः' से मिलता हुआ—'हु' रूप भी मिलता है। यथा,—'वच्छहु' (३३६।१), 'स्सु' जो सम्भवतः पञ्चम्यर्थं षष्ठी का रूप है, मिलता है। यथा—'खन्धस्सु' (४४५।२) बहुवचन में भी गिरिहे ँ सिलायलु तरुहे ँ फलु' (३४१।१) इसी प्रकार—हुँ रूप भी 'तरुहुँ', 'सामिहुँ' (३४१।२) और हु रूप, यथा—'जिहं गिरिसिङ्गहु' (३३७।१) मिलते हैं।

सम्बन्ध के एकवचन में सं० 'स्य' का—'स्स'—स्सु हो जाता है। यथा—परस्सु, पियस्सु (३५४।१) उसका बिगड़ा हुआ या विकसित रूप जासु, तासु और कासु (३५८।१) में दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार जसु (३६८) भी मिलता है। 'होँ' रूप भी मिलता है। यथा 'तसु कन्तहोँ बलि कीसु (३८९।१)—'हो 'यथा—'सव्वासणरिउसम्भवहो' (३९५।२)।—हु यथा—'महु कन्तहोँ' (३९५।५)।—हे ँ, यथा, तहे ँ (३८२), तुच्छमज्झहे (३५०।१)। —हि, यथा—'तहि सारिक्खु' (४०४।१)।

बहुवचन में—आहं,— आहं,—आण रूप मिलते हैं। यथा,—'अगलिय-नेह निवट्टाहँ' (३३२।१); तणहँ तइज्जी (३३९।१); 'पत्तत्तणं न पत्ताणं' (३७०।१)।

अधिकरण के एकवचन-इ-ए और—हिं या—हिँ रूप मिलते हैं। यथा, 'तलि घल्लइ रयणाइँ' (३३४।१), 'ते ँ अवडयडि वसन्ति' (३३९।१), कसवट्टइ (३३०।१), 'मारइ हियइ पइट्ठि' (३३०।३), रद्दवार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३३११);–एँ, यथा'–गण्डत्थले॑ सरउ' (३५७।२), अप्पिएँ दिट्ठइ, 'पिएँ दिट्ठइ' (३६५।१);—हिँ, यथा,—एक्कहिँ अक्खिहिँ सावणु (३५७।२), जहिँ कप्पिज्जइ (३५७।१);–हि, यथा,—श्रद्धा वलया महिहि गय (३५२), कलिहि धम्मु (३४१।३)।

अधिकरण के बहुवचन में—'एँहिं' रूप मिलता है। यथा, 'संगर सएँहिँ जु वण्णिअइ' (३४५।१), मग्गेॅहिँ (३४७।१);–'इहिं' भी, यथा—'डुङ्गरिहिं' (४४५।१)। पिशेल ने सर्वत्र–हिँ का उदाहरण दिया है। यथा,—सअहिँ, मग्गहिँ, अण्णहिँ, तरुवरहिँ (४२।८)। इस प्रकार अधिकरण के बहुवचनवाले रूपों को—एहिं और—इहिं अन्त में न पढ़कर अन्त में—'हिं' पढ़ने की सम्मति उसके अनुवादक ने भी दी है।

अपभ्रंश में अधिकरण और अपादान के रूप समान होते हैं। सम्प्रदान की विभक्तियां पृथक् रूप में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। कर्त्ता और कर्म में समान रूप दिखाई पड़ते हैं। करण और अधिकरण में एकरूपता है तथा चतुर्थी के लिए षष्ठी का प्रयोग देखा जाता है। अपभ्रंश में द्विवचन नहीं होता।

सम्बोधन के रूप एकवचन में कर्त्ता के एकवचन के समान होते हैं। यथा—'ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया' (३३०।२), 'हियडा फुट्टि तडत्ति करि (३५७।३)। बहुवचन में—हो रूप दिखाई पड़ता है। यथा,—'रवखेॅज्जहो लोअहो अप्पणा' (३५०।२)। स्त्रीलिंग में बिट्टिए, सहिए रूप मिलते हैं।

सुविधा के लिए कुछ शब्दों और क्रियाओं के रूप नीचे दिये जा रहे हैं—

अकारान्त पुंलिंग शब्द पुत्त [पुत्रः] के रूप

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	पुत्तु, पुत्तउ, पुत्तो, पुत्त, पुत्ता	पुत्त, पुत्ता
कर्म	,, ,,	,, ,,
करण	पुत्तेण, पुत्तें, पुत्ते, पुत्तिण, पुत्ति	पुत्तेॅहिँ, पुत्तेहिँ, पुत्तेहि, पुत्तेॅहि
सम्प्रदान	[में तादर्थ्य 'तेहिं', 'केहिं' जोड़े जाते हैं। इसके रूप षष्ठी में मिल गए हैं।]	पुत्तिहिँ, पुत्तिहि, पुत्तहिँ, पुत्तहि (एकवचनवत् समझना चाहिए।)
अपादान	पुत्तहेॅ, पुत्तहे, पुत्तहु	पुत्तहुँ, पुत्तहु
सम्बन्ध	पुत्तस्सु, पुत्तसु, पुत्तहोॅ, पुत्तहो, पुत्तह	पुत्ताहँ, पुत्तहँ, पुत्ताणं
अधिकरण	पुत्ति, पुत्तइ, पुत्तेॅ, पुत्ते, पुत्तए, पुत्तएँ, पुत्तहिँ, पुत्तहि	पुत्तेहिँ, पुत्ताहिँ, पुत्तहिँ
सम्बोधन	पुत्त, पुत्ता,	पुत्तहो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकारान्त नपुंसक लिंग कमल शब्द

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म—कमलु, कमल	कमलइं, कमलइँ

शेष पुंलिगवत्

इकारान्त पुंलिंग अग्गी या अग्गि शब्द [अग्निः]

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	अग्गी, अग्गिं	अग्गी, अग्गिहो
कर्म—	" "	"
करण—	अग्गिण, अग्गिं, अग्गिएं	अग्गीहिँ
अपादान—	अग्गिहे, अग्गिहिन्तो	अग्गिहुँ, अग्गीहिंतो
सम्बन्ध—	अग्गिहे	अग्गिहिँ, अग्गिहुँ, अग्गि
अधिकरण—	अग्गिहिँ	अग्गिहिँ, अग्गिहुँ
सम्बोधन—	अग्गि, अग्गी	अग्गिहो

उकारान्त पुंलिंग वाऊ (वायुः) शब्द के रूप

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता-कर्म—	वाऊ, वाउं	वाऊ, वाउं
करण—	वाउण, वाउं (वाएं)	वाऊहिँ, वाऊहिं, वाऊहि
अपादान—	वाउहे, वाउहिन्तो	वाउहुँ, वाऊ-हिन्तो
सम्बन्ध—	वाउहे	वाउहिँ, वाउहुँ, वाउ
अधिकरण—	वाउहिं	वाउहिँ, वाउहुँ
सम्बोधन—	वाउ, वाऊ	वाउहो

नपुंसकलिंग महु [मधु] शब्द

कर्त्ता, कर्म और सम्बोधन के एकवचन में-महु, महू इनके बहुवचन में—महूइं, महूइँ। शेष 'वाऊ' के समान समझना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकारान्त स्त्री लिंग 'बाला' शब्द के रूप

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म—बाला	बाला, बालाउ, बालउ
करण - बालाएँ, बालाए	बालहिँ, बालहि
अपादान —बालहे	बालहु
सम्बन्ध —बालहे	बालहु, बालहं, बालहँ
अधिकरण —बालहि, बालहिँ	बालहि, बालहिँ, बालहुँ, बालहुं
सम्बोधन—बाला, बाल	बालउ, बालाउ, बाला

ईकारान्त स्त्रीलिंग णदी (नदी) शब्द के रूप

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म— णदी, णदि	णदी, णदिउ
करण—णदिएँ णदिए	णदीहिँ, णदीहि
अपादान, सम्बन्ध—णदिएँ णदिहे	णदिहु, (णदीणं सम्बन्ध में हो)
अधिकरण—णदिहिँ, णदी, णदि	णदीहि, णदिहिँ, णदिहुँ
सम्बोधन—णदि	णदिहों

सर्वनाम [उत्तम पुरुष] अस्मद्

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—हउँ (हउं)	अम्हे, अम्हइँ (अम्हइं)
कर्म— मइँ (मइं)	,, ,, ,,
करण—,, ,,	अम्हेहिँ (अम्हेहिं)
अपादान, सम्बन्ध—महु, मज्झु, मज्झ	अम्हहँ (अम्हहं)
अधिकरण—मइँ, (मइं)	अम्हासु

अस्मद् शब्द के अपभ्रंशवाले एकवचन के रूपों को देखते हैं तो कर्म, करण और अधिकरण में समान रूप दिखाई पड़ते हैं। एकवचन के रूपों पर ध्यान देने से तीन दल दिखाई पड़ते हैं। प्रथम-कर्त्ता, द्वितीय-कर्म, करण और अधिकरण तथा तृतीय-(सम्प्रदान) अपादान और सम्बन्ध का। युष्मद्, अस्मद् शब्द के सम्बोधन में रूप नहीं होते। 'अस्मद्' शब्द के अपभ्रंश में बहुवचनवाले रूपों के चार दल दिखाई पड़ते हैं। प्रथम—कर्त्ता-कर्म, द्वितीय—करण का, तृतीय—(सम्प्रदान) अपादान और सम्बन्ध का एवं चतुर्थ—अधिकरण का।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत 'युष्मद्' (मध्यम पुरुष) के अपभ्रंशवाले रूप

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तुहुँ (तुहुं)	तुम्हे, तुम्हइं, तुम्हइँ
कर्म	पइँ, पइं, तइँ, तइं	,, ,, ,,
करण	,, ,, ,, ,,	तुम्हेहिं, तुम्हेंहिँ
अपादान, संबंध	तउ, तुज्झ, तुध्र	तुम्हहं, तुम्हहँ
अधिकरण	पइं, पइँ, तइं, तइँ	तुम्हासु

सम्बन्ध के एकवचन में 'तुज्झह' और 'तुह' रूप भी मिलते हैं। कहीं-कहीं तुज्झ का 'तुज्झु' भी दिखाई पड़ता है।

धातु रूप-रचना (तिङ् विभक्ति)

कर् धातु के रूप

वर्तमान काल (लट् लकार)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पु०	करइ, करदि	करहिं, करहिँ, करन्ति
मध्यम पु०	करसि, करहि, करहिं, करहिँ	करहु
उत्तम पु०	करउं, करउँ, करामि, करेमि	करहुँ, करहुं, करिमु

आज्ञार्थक (लोट् लकार)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पु०	×	×
मध्यम पु०	करू, करहि, करहिं, करेँ, करह, करि	करह, करहु, करहिँ
उत्तम पु०	×	×

भविष्यत् काल (लट् लकार)

	एक वचन	बहुवचन
प्रथम पु०	करिसइ, करिहइ	करिसहि, करिहहि
मध्यम पु०	करीहिसि, करिसहि	करिसहु, करिहहु
उत्तम पु०	करीसु, कीसु	करिसहुं, करिसउँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश में भूत काल के लिए कृदन्त वाले रूप मिलते हैं। उपर्युक्त रूपावली दिग्दर्शन मात्र है। धातुओं को अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है। उनकी प्रकृति के अनुकूल उनके रूप बनते हैं। कर्मवाच्य में भिन्न ही रूप हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रियाओं के लिए कृदन्त रूप—ऍप्पि,—ऍप्पिणु,—एवि,—एविणु एवं विभिन्न धातुओं एवं शब्दों के स्थान पर नये-नये आदेश अपभ्रंश व्याकरण के बहुत प्रमुख तत्त्व हैं, जिन पर अपभ्रंश के अध्येताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक है। विशेष अध्ययन के लिए हेमचन्द्र का अपभ्रंश-व्याकरण प्रस्तुत है।

२—अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों का साहित्यिक मूल्यांकन

यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र ने भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश दोहों को उद्धृत किया है किन्तु निसर्ग-सिद्ध-साहित्यिकता उनके महत्त्व को बढ़ा देती है। विचारने की बात है कि मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश भाग में इतने अधिक रस-भावापन्न उद्धरणों को आचार्य ने क्यों उद्धृत किया? अपभ्रंश-भाग में भी शब्दों को उद्धृत कर काम चलाया जा सकता था। किन्तु अपभ्रंश भाषा का प्रेम सम्पूर्ण दोहे को उद्धृत करने के लिए आचार्य को बाध्य करता है तथा उनके साहित्यिक स्वरूप को व्यक्त करता है। इससे आचार्य की संग्राहिका-प्रतिभा और उनके लोकभाषानुराग का पता चलता है।

विषय-विभाजन की दृष्टि से विचार करने पर अपभ्रंश व्याकरण में उद्धृत दोहों को शृङ्गारिक, वीरभावापन्न, नैतिक, अन्योक्तिपरक, वस्तु-वर्णनात्मक और धार्मिक भेदों में विभक्त कर सकते हैं। इन दोहों में अधिकतर शृङ्गारिक दोहों की परम्परा 'गाहा सत्तसई' या लौकिक शृङ्गारिक मुक्तकों से जोड़ी जाती है। शृङ्गारिक दोहों में भी अधिकतर दोहे कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढ़ोक्ति के रूप में विद्यमान हैं। ऐसे बहुत से दोहे हैं जिनमें नायिका स्वयं नायक की वीरता की चर्चा करती है। ऐसे दोहों में कई दोहे रतिवृत्ति-प्रधान होते हुए भी वीर-रस पूर्ण दिखाई पड़ते हैं। विशुद्ध शृङ्गारिक दोहों में—नायिका अपनी सखी या दूती से अथवा दूती, सखी या अन्य कोई स्त्री पात्र नायिका से रतिवृत्ति को जागरित करनेवाले भाव व्यक्त करता है। कहीं स्वयं नायिका पथिक से वाक्चातुर्य द्वारा गोपनवृत्ति की अभिव्यक्ति करती है। कहीं कवि अपनी प्रौढ़ोक्तियों के द्वारा; कहीं आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन या अनुभाव मात्र का वर्णन दिखाई देता है। कहीं नायिका के सम्पूर्ण अंगों का और कहीं उसके विशेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंगों का, यथा मुख, नेत्र, स्तन, कटि आदि का ही वर्णन है। शृङ्गार के दोनों भेदों संयोग और वियोग से सम्बन्धित पर्याप्त उद्धरण प्राप्त होते हैं। वियोग में भी मान, प्रवास और अभिसार सम्बन्धी दोहे मिलते हैं।

सर्वप्रथम रूप वर्णन सम्बन्धी कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं। रूप-वर्णन में भी ऐसे ही उद्धरण संग्रहीत हैं जिनमें नायिका के रूप का ही वर्णन है, नायक के रूप का वर्णन नहीं के बराबर है। नायिका के मुख का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि चन्द्रमा की तीक्ष्ण किरणों को निकाल कर जैसे-तैसे किसी प्रकार छोल-छालकर ठीक किया जाता तब कहीं गोरी के मुख कमल की कुछ समता वह पाता[१]। यह मुग्धा अपने मुखचन्द्र की किरणों से अन्धकार में अपना हाथ देख लेती है तो चन्द्रमंडल की चाँदनी से दूर तक के पदार्थों को क्यों नहीं देख लेगी[२] ?

कबरी-बन्ध-समन्वित मुखसौंदर्य का वर्णन करते हुए अपभ्रंश कवि कहता है कि चन्द्रमा और राहु मानो मल्ल-युद्ध कर रहे हैं। भ्रमरकुल के समान उसके काले-काले अलक ऐसे लग रहे हैं मानो अंधकार के बच्चे मिलकर खेल रहे[३] हैं। यहाँ कवि कबरी बन्ध को राहु बनाकर न केवल उसकी कृष्णता का वर्णन कर रहा है अपितु चन्द्र और राहु का मल्ल-युद्ध कराकर दोनों की शोभा का अतिरेक व्यक्त कर रहा है। अलकों के लिए पहले भ्रमरकुल फिर अंधकार के बच्चों को प्रस्तुत कर सजीव या चेतनावत् वर्णन किया है। यहाँ कवि कालिदास की प्रतिभा को स्पर्श कर रहा है।

सुरत के अनन्तर तन्वी के बिम्बाधर पर रदन-व्रण (दन्तक्षत) रूप प्रस्तुत का वर्णन करते हुए कवि की नई उत्प्रेक्षा देखिये। मालूम होता है कवि श्रीहर्ष की प्रतिभा को स्पर्श कर रहा है। प्रिय ने निरूपम सुधा-रस का पान कर अवशिष्ट पर मुहर दे दी है जिससे अन्य कोई उसका उपयोग न कर सके[४]। नायिका के स्तन का रूपात्मक ही नहीं भावात्मक वर्णन करते हुए भी कवि कहता है—'जो अपने हृदय को फोड़ते हैं उन्हें अन्य के विषय में (अन्य के हृदय को फोड़ने में) क्या दया? हे लोगो, उस बाला से अपनी रक्षा करो, उसके स्तन बड़े विषम हो गये[५] हैं। (विषम शब्द भी ध्यान देने योग्य है।)

१—३९५।१, २—३४९।१ ३—३८२।१,
४—४०१।३, ५—३५०।२,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पूर्ण अंगों की सूक्ष्मता या सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है, 'उसका सब कुछ सूक्ष्म है, मध्यभाग—कटि प्रदेश सूक्ष्म, वाणी तुच्छ अर्थात् धीमी–मधुर है; रोमावली तुच्छ अर्थात् पतली है, सूक्ष्म राग है, हास्य भी सूक्ष्म अर्थात् स्मित ही रहता है, प्रियतम का समाचार न मिला तो शरीर भी सूक्ष्म अर्थात् कृश हो गया है। उसके शरीर में कामदेव वास करते हैं, उस धन्या का अन्य जो कुछ भी अवशिष्ट है, तुच्छ या सूक्ष्म ही है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है कि उसके स्तनों के मध्य का भाग इतना सूक्ष्म है कि उस मार्ग पर मन भी नहीं चल पाता—वहाँ मन की भी गति नहीं है।[१]

कृष्ण के समान श्यामवर्ण का नायक है और राधा के समान गौर वर्ण की नायिका। विपरीत रति के समय युगल जोड़ी के रूप-सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है 'मानो (श्यामवर्ण की) कसौटी पर (स्वर्ण रंग की) सोने की रेखा हों'। यहाँ नायक के वक्षस्थल की विपुलता और नायिका की तनुता व्यक्त है।[२]

वियोग के समय उसकी एक आँख में सावन और दूसरी में भादो, पृथ्वी तल पर स्थित उसके विस्तर पर माघ मास, कपोलों पर शरत् है, अंगों—में ग्रीष्म का आवास, सुखपूर्वक बैठने के तिलवन में मार्ग-शीर्ष और मुख पंकज में शिशिर का निवास है[३]।

नायिका प्रियतम के विरह में इतना क्षीण हो गई है कि हाथ से कहीं कंगन गिर न जाएँ इसलिये हाथों को सर्वदा ऊपर करके ही चलती है मानो प्रियतम के अथाह विरहह्रद की थाह लगा रही है।

सीता ने भी हनुमान से कहा था—

"अब जीवन कै है कपि आस न कोइ,
कनगुरिया की मुदरी कंगन होइ।"

ऐसी ही एक कृशतनु नायिका अपने आँसुओं से चोली को गीली करती हुई, ऊष्ण उच्छ्वासों से उसे सुखाती हुई प्रियतम का मार्ग देख रही है। उसे देखकर जाने के बाद एक पथिक ने समाचार पूछने वाले उसके पति से कहा था—

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेँहिँ कञ्चुआ तिन्तुव्वाण करन्त। (४३१।१)

एक बार वही तन्वी प्रियतम के आगमन हेतु कौए को उड़ा रही थी। नीचे से ऊपर होने के कारण कुछ वलय हाथ से निकल चुके थे। इतने में सामने

१—३५०।१, २—३३०।१, ३—३५७।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पति को आते हुए वह देखती है। हर्ष की उत्फुल्लता से वह इतनी मोटी हो जाती है कि उसके हाथ के शेष वलय हाथ से निकल नहीं पाते, वे तड़तड़ा कर टूट जाते हैं[1]। इस दोहे के मंजे हुए राजस्थानी रूप की चर्चा गुलेरी जी ने यों की है—

काग उडावण जावती पिय दीठो सह सत्ति।
आधी चूड़ी काक गल आधी टूट तडित्ति।। (पु० हि० पृ० १५)

नव परिणीता नायिका से शीघ्र मिलने की लालसा वाला एक नायक सोचता है कि किस प्रकार यह दुष्ट दिन समाप्त हो और कैसे रात शीघ्र आए।[2]

इसी प्रकार एक नायिका रात भर प्रियतम का मुख-कमल देखती ही रह जाती है। जब एक सखि दूसरे दिन उससे निधुवन-लीला का समाचार पूछती है तो वह कहती है—हे सखि, न अंगों से अंग मिला न अधर से अधर, प्रियतम के मुखकमल को देखते ही देखते सुरत समाप्त हो गया।[3]

यहाँ संयोग में वियोग की और विभावना अलंकार की झलक है—अंगों से अंगों के या अधर से अधर के न मिलने पर भी सुरत का समाप्त होना विभावना को ही सूचित करता है। दोधक वृत्तिकार की इस स्थल की बीभत्सता का परिचय गुलेरी जी ने दिया है—"अतिरसातिरेकात् संभोगात् पूर्वमेव द्राव इति भवः। इसके विना कौन सा अर्थ नहीं खिलता था[4]।"

एक नायक मान करके बैठ जाता है। उसे समझाया जा रहा है कि मान करना ठीक नहीं है, ऐसे ही रात चली जायगी और सबेरा हो जायेगा।[5] नायिका भी सोचती है, 'प्रियतम आएँगे और मैं रूठूँगी, रूठी हुई वे मुझे मनाएँगे'।[6] चुम्बन की लालसा से भरी एक नायिका अपने अति-तुंगता-प्राप्त घटप्रतिभट-स्तनों को चुम्बन-क्रिया में बाधक समझकर उनकी निन्दा करती है।[7]

इस प्रकार मान सम्बन्धी अनेक उक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें कभी नायक और कभी नायिका मान करती है। कभी नायिका का मान भंग होता है तो कभी नायक का।

एक नायिका कहती है, जीवन चंचल है और-मरण निश्चय है फिर इस क्षणिक जीवन में रूठा क्यों जाए ? रूठने का एक दिन भी सैकड़ों वर्षों के

१—३५।२।१, २—४०।१।१, ३—३३।२।२, ४—पुरानी हिन्दी पृ० १५४, ५—३३०।२, ६—४१४।४, ७—३९०।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बराबर होता है। एक वार असमय ही प्रियतम झगड़ा कर बैठता है जो प्रिया के लिये पश्चात्तापकारक हो जाता है।[१] प्रिय विप्रियकारक (असमय झगड़ने वाला या अन्यानुरक्त) है, फिर भी उसके दोषों को भूल कर कलहान्तरिता नायिका उसके यहाँ दूती भेजती है। आग से घर जल जाता है तो क्या उससे काम नहीं करते ?

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥ (३४३।२)

इसी प्रकार की एक गाहा प्राकृतपैङ्गलम् में भी मिलती है—

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहोवि।
पत्ते वि णअरडाहे भण कस्स न वल्लहो अग्गी ॥ (१।५५)

(जिसके विना न जिया जा सके, वह अपराधी रहने पर भी मनाया जाता है। नगर के जलने पर भी बताओ, वह कौन है जिसे आग प्यारी नहीं। आग नगर को जला देती है फिर भी लोग उससे काम लेते ही हैं।)

हेमचन्द्र के भाव से साम्य रखता हुआ एक गाहा छंद सरस्वती कंठाभरण में भी मिलता है।

"जो जस्स हिअअ दइओ दुक्खं देन्तो वि सो सुहं देइ।
दइअ-णह-दूइआणं वि वड्ढोइत्थणआणं रोमञ्चो ॥ (४।१६१)

(जो जिसके हृदय का दयित है, वह दुःख देता हुआ भी सुख देता है, दयित के नख से क्षत स्तनों पर रोमाञ्च बढ़ता है।)

प्रियतम से न मिलकर प्रिया अस्वस्थ है। अतः अब मान नहीं करेगी। प्रिय को देखने पर हलचल में वह मनस्विनी मान करना भूल जाती है।[२] कभी-कभी प्रिय बाहर जाने का नखरा करता है जिसे नायिका अच्छी तरह समझती है। वह कहती है, 'सखि, प्रियतम जा रहा है तो जाने दे, देखूँ तो वह कैसे जाता है। वह जाने का केवल नखरा कर रहा है।[३]

मान-विरह के अतिरिक्त प्रवास-विरह के भी अनेक उद्धरण मिलते हैं। मान-विरह में कृत्रिमता या विलासिता अधिक प्रतीत होती है, किन्तु प्रवास-विरह में स्नेह अत्यंत तप्त और उद्दीप्त हो जाता है। प्रियतम विदेश जा रहा है (गच्छत्-प्रवास है) नायिका के हृदय ने कहा था—प्रियतम के अभाव में मैं नहीं रह सकता फिर भी है, नायिका को इसका कष्ट है। वह सोचती है—

१—४२४।१; २—३९६।२; ३—४२०।१;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रियतम के चलते ही हृदय क्यों नहीं फूट गया—निकल गया। जाते हुए प्रियतम का हाथ पकड़कर वह रोक लेना चाहती है पर प्रियतम आवश्यक कार्य वश बाँह छुड़ाकर चला जाता है फिर भी वह प्रिया के हृदय से नहीं निकल सकता।[१] इसी प्रकार का एक दोहा सूरदास के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध हैं,—

''बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदय से जौ जाहुगे मरद बदौगो तोहि॥'

प्रियतम ने आने की तिथि दी थी पर अब तक नहीं आया। नख से उँगलियों पर बार-बार (दिनों के) गिनने के कारण उँगलियाँ जर्जर हो गईं।[२] प्रियतम के पास तक जाने वाला एक पथिक मिलता है, पर नायिका संदेश कैसे दे? जिस प्रिय के जाते समय उसके साथ वह स्वयं न जा सकी और जिसके वियोग में वह मर न गई, उसके पास संदेश भेजने में भी वह लज्जा का अनुभव करती है।[३] 'संदेशरासक' में यह दोहा यों है—

जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ वियोइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिअ पियासु॥ (७०)

पानी से उठते हुए वाष्प पर कवि की कल्पना है, विरहाग्नि की ज्वाला से जला कोई पथिक जल में निमग्न है, अन्यथा शिशिर काल में शीतल जल से धूम कहाँ से उठा?[४] विरह-वर्णन में पथिक को माध्यम बनाकर कवि ने कवि-निबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति को कथनद्वार बनाया है। वर्षाकालीन रात्रि के समय एक प्रवासी विरही की दशा देखिए—उसके हृदय में गोरी खुड़ुक रही है और आकाश में बादल घुड़की दे रहे हैं, बेचारे की दशा बहुत खराब हो गई है।[५]

मांजिष्ठ राग का वर्णन करते हुए अपभ्रंश कवि कहता है—देशोच्चाटन, अग्नि से औंटा जाना और घन से कूटा जाना जो कुछ लोक में कष्टकारक हो सकता है वह सब अति अनुरक्त मंजिष्ठ के द्वारा ही सहने योग्य है।[६]

शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों के भी अनेक उद्धरण मिलते हैं। वीर रस के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। युद्धस्थल और उसके उपकरणों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—ये घोड़े हैं, यह युद्धस्थली है, ये वे तीक्ष्ण तलवारें हैं, यहीं पर उसके पौरुष की परीक्षा होगी जो घोड़े की बाग नहीं मोड़ेगा।[७] घोड़ों की वल्गा को न मोड़ कर सीधे चलाना वीरों का काम है। नायिकायें

१—४३९।३; २—३३३।१ ३—४१९।३; ४—४१५।१; ५—३९५।४; ६—४३८।२; ७—३३०।४;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने पति की सहायता के लिए युद्धों में उनके पास ही रहती थीं। एक नायिका अपने पति से कहती है—'हम दोनों के रण-क्षेत्र में पहुँच जाने पर जयश्री की तर्कना कौन कर सकता है ? अपने केशों के द्वारा यमगृहिणी को पकड़कर कौन जीवित रह सकता है' ?[१]

युद्धस्थल में पति के साथ रहकर नायिका ने अद्भुत लड़ाई की है। उन दोनों ने एक क्षण में उतनी बड़ी लड़ाई जीत ली है।[२] ऐसी नायिका के प्रियतम की उपमा जब सिंह से दी जाती है तब उसके मान-गौरव का भंग होता है। क्योंकि सिंह तो बिना रक्षक के हाथियों को मारता है पर उसका कान्त पद-रक्षकों के साथ रहने वालों को मारता है[३]। एक वीर योद्धा घने वैरियों से घिरा है पर इस कारण वह आकाश पर चढ़ना नहीं चाहता। वह हृदय को समझाता है—'मेरे भी दो हाथ हैं, वैरियों को मार कर ही मरूँगा–'।[४]

बैलों को माध्यम बनाकर कवि ने उत्साह का संचार किया है। हल या गाड़ी जोतने वाला स्वामी बैल से कह रहा है—'हे धवल तू अपने कन्धे पर इस धूरे को धारण कर क्योंकि गरियार बैलों से मैं परेशान हो गया हूँ'।[५] वही धवल बैल अपने साथी गरियारे बैल से परेशान अपने स्वामी से एक जगह दुःखी होकर कहता है,—'हे स्वामी मुझे ही दो खंड करके दोनों तरफ क्यों नहीं जोत देते' ?[६] इस प्रकार मानवेतर द्वारा यह प्रेरणा अपने समय की ओज भरी प्रवृत्ति की ओर हमारा ध्यान खींचती है।

अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं जो वीररस के साथ ही शृङ्गार-रस से भी पूर्ण हैं। शृङ्गार और वीर का ऐसा मेल अन्यत्र दुर्लभ है। नायिकायें जब अपने पतियों की वीरता का वर्णन करने लगती हैं तो उनका पति-विषयक-रतिभाव और पतियों के ओजो-भाव का प्रेरणादायक वर्णन होता है। एक नायिका की मनोवांछा देखिये, वह गौरी से प्रार्थना करती है कि हे देवि, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी, वही कान्त देना जो मदमत्त और अंकुश की कुछ भी परवाह न करने वाले हाथियों से आकर भीड़ जाय।[७] सौभाग्य से उसने ऐसा ही वीर पति प्राप्त भी किया। जब वह पति युद्धस्थल में वीरता दिखा रहा है तो नायिका अपनी सखियों से कहती है,—'सैकड़ों युद्धों में जिसकी प्रशंसा की जाती है, ऐसे उस अत्यन्त मत्त तथा अंकुश की कुछ भी परवाह न करने वाले गजों के कुम्भ-

---

१—३७०।३; २—३७१.१ ३—४१८।२ ४—४३९।१; ५—४२१.१; ६—३४०।२; ७—३८३।३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थलों को विदारनेवाले मेरे कान्त को तो देखो'।[१] एक नायिका युद्धस्थल में अपने प्रियतम के हाथों में करवाल देखकर प्रसन्न हो जाती है। वह देखती है कि जब उसकी अथवा शत्रुओं की सेना भागने लगती है तब प्रियतम के हाथों में करवाल चन्द्रकला की तरह चमचमाने लगता है।[२] युद्धस्थल में लड़नेवाले अपने पति की वीरता देखकर एक नायिका कहती है,—'जहाँ बाणों से बाण काटे जा रहे हैं, खड्गों से खड्गों का छेदन किया जा रहा है, वहाँ उस प्रकार के भटों की घटा में मेरा प्रिय मार्ग प्रकाशित करता है'।[३]

एक नायिका अपनी सखि से कह रही है,—'युद्धस्थल से यदि शत्रु-पक्षवाले भाग रहे हैं तो मेरे प्रिय के ही कारण और यदि हमारे पक्ष के भाग रहे हैं तो मेरे प्रियतम के मारे जाने पर'।[४] वीर और शृङ्गार का एक और मेल देखिए—किसी की झोपड़ी जल रही है, किसने फूंकने का दुस्साहस किया है? नायिका कहती है,—'मेरे कन्त के गोष्ठ में स्थित रहने पर झोपड़े कैसे जल रहे हैं? वह (कन्त) या तो शत्रु के या अपने रक्त से उसे ठण्डा कर देगा—इसमें कुछ भी भ्रांति नहीं है'।[५] इधर देखिए, यह नारी किस चीज के व्यवसाय की बात कर रही है? चूड़ी या लिपिस्टिक या पाउडर या किसी अन्य शृङ्गार प्रसाधन की नहीं, खंग की। इस देश में युद्ध नहीं होते अतः वह दुःखी है। वह अपने प्रिय से कहती है,—'हे प्रिय, उस देश में चलो, जहाँ खंगों का व्यवसाय हो। रण के दुर्भिक्ष (अभाव) के कारण हम टूट गए हैं (दुर्बल हो गए हैं) विना युद्ध के नहीं जुटेंगे'।[६]

शृङ्गार और वीर के मेल के अतिरिक्त दानवीर और युद्धवीर का समन्वय देखिए। एक सखि अपनी सखि के प्रिय की प्रशंसा कर रही है। नायिका को यह बुरा लगता है, वह भी व्याजस्तुति के द्वारा अपने भाव व्यक्त करती है। 'हे सखि मेरे पति के दो-दोष हैं, व्यर्थ प्रशंसा न करो। उसके दान करते हुए तो मैं बच गई और युद्ध करते हुए तलवार।' भाव यह कि दान में मुझे ही नहीं दिया और लड़ाई में तलवार नहीं तोड़ दी। ये दोनों उसके दो दोष हैं।[७] श्री हर्ष ने भी नैषध (१।१६) में नल के दो दोषों की चर्चा की है,—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशो युगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम्॥

१—३४५।१; २—३५४।१; ३—३५७।१। ४—३७९।२, ५—४१९।१, ६—३८६।१, ७—३७९।१,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[नल ने सुमेरु पर्वत को खंड-खंड करके न तो याचकों को दिया और न तो समुद्र के जल से दान देने के समय इतना अधिक संकल्प किया कि समुद्र मरुस्थल हो जाए। अत: उसने इन दोनों को अपना अपयश मान लिया और उन्हें अपने शिर पर काले-काले केशों के दो विभाग के रूप में स्वीकार किया।]

शृङ्गार, वीर, रौद्र और वीभत्स का एकत्र समन्वय देखने योग्य है। एक नायिका कापालिकों पर दया करके कहती है,–'प्रिय, ऐसे ही हाथ में भाला रख करवाल छोड़ दे जिससे वेचारे कापालिक अभग्न कपाल लें। (भाला से छिदे हुए कपालों को भला कापालिक कैसे लेंगे'।[1]) यहाँ युद्ध का उत्साह, क्रोध, भाला से मार कर कापालिक को छेद-छेद कर देना आदि अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है—नायिका कहती है—'प्रियतम के पैरों में अंतड़ी लगी है, शिर कन्धे पर लटक गया है फिर भी कटारी पर उसका हाथ दिखाई पड़ रहा है'।[2] वीर और शृङ्गार का, बीभत्स और करुणा का समन्वय देखिये जहाँ उत्साह प्रमुख दिखाई पड़ रहा है। नायिका कहती है-–'हे सखि, अच्छा हुआ जो पति युद्ध-स्थल में मारा गया। यदि भागकर वह घर आता तो वयस्याओं के द्वारा वह लजवाया जाता अथवा मैं ही लजवाई जाती'।[3]

विशुद्ध लौकिक शृङ्गारिक उक्तियों और ओज भावापन्न वाणियों के अतिरिक्त नीति विषयक भी अनेक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं, जिनमें जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण उपदेश भरे हैं। ये जीवन निर्मापक एवं उत्तम प्रेरणादायक वचन हैं, जिन पर विशेषत: जैन धर्मोपदेशकों का ध्यान रहा है। 'सागर तृणों को तो अपने ऊपर धारण करता है किन्तु रत्नों को अपने भीतर रखता है। उसी प्रकार स्वामी भी सुभृत्यों को छोड़कर खलों का सम्मान करता है'। (दुर्जनं प्रथमं वंदेत् सज्जनं तदनन्तरम्)।[4] उच्च स्थान से भ्रष्ट (पदच्युत) खल अपने साथ-साथ अपने सम्बन्धियों को भी नष्ट करता है।[5] साधु लोग भी अपने बड़प्पन के लिये मरते हैं पर बड़प्पन तो त्याग से मिलता है। यदि महत्ता चाहते हो तो दो; किसी से माँगो मत। क्योंकि बलि से अभ्यर्थना करने पर वामन (विष्णु) भी लघु हो गए। (वामन अँगुल गात हो गए)।[6] कुंजर को ध्यान में रखकर कवि की एक अन्योक्ति है—'हे कुंजर, सल्लकी नामक वृक्षों का स्मरण कर लम्बी साँस मत छोड़। भाग्यवश जो भी मिला है उसीको चर, पर अपना मान मत

१--३८७।३। २—४४५।२, ३--३५१।१, ४— ३३४।१, ५--३८७।१, ६—३८४।१,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़'।[१] (देखि पराई चूपड़ी मत ललचावै जीव)। मान सबसे अधिक मूल्यवान् है, जब मान ही नष्ट हो गया तब क्या रह गया? कवि कहता है,—"मान के नष्ट होने पर हो सके तो शरीर ही छोड़ देना चाहिए, नहीं तो उस देश (स्थान) को अवश्य छोड़ देना चाहिए, दुर्जनों की उँगलियों द्वारा दिखाया जाकर अपमान नहीं सहना चाहिए'।[२] 'उस पुत्र के जन्मने से क्या फायदा और मरने से क्या हानि जिसके बाप की जमीन दूसरों के द्वारा चाँप ली जाती है'।[३] (आज भी इस दोहे का वैसा ही महत्त्व है।)

इन उद्धरणों में एक ओर तीर्थों का खंडन है, यथा—व्यास महर्षि ने कहा है कि श्रुतियां और स्मृतियाँ प्रमाण हैं तो माताओं के चरणों में बार-बार नमन करना प्रतिदिन गङ्गा-स्नान करने के बराबर है।[४] तो दूसरी ओर शिव तीर्थ अथवा उज्जयनी और वाराणसी की महत्ता पर भी ध्यान है,—लोग वाराणसी अथवा उज्जैनी जाकर मरकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं। अन्य दिव्य लोकों को मत कहो। इसी प्रकार जो गंगा जाकर अथवा शिवतीर्थ (काशी) जाकर मरता है वह यमलोक जीतकर देवलोक में जाकर क्रीड़ा करता है।[५] दुर्लभ को भी प्राप्त करने को जिनकी इच्छा होती है, वे दूरी को कुछ भी नहीं गिनते। देखो, कमलों को छोड़कर भ्रमर हाथियों के गण्ड स्थल की आकांक्षा रखते हैं।[६] दूर रहने पर भी सज्जनों का स्नेह असाधारण रूप में बना रहता है, देखिये, शशधर (चन्द्र) कहाँ, और मकरधर-सागर कहाँ? मयूर कहाँ और मेघ कहाँ (दोनों में पर्याप्त दूरी है) फिर भी दोनों में असाधारण प्रेम है।[७]

इन अपभ्रंश के उद्धरणों में अनेक अन्योक्तियाँ भी हैं, जो बहुत पहले से ही प्राकृत और संस्कृत में कथन की एक शैली के रूप में प्रसिद्ध हैं। बाद में हिन्दी में दीनदयाल गिरि आदि की ऐसी ही अन्योक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। चातक पर एक अन्योक्ति देखिये—"हे निर्दय चातक, बार बार रटने से क्या फायदा, विमल जल से सागर के भरे रहने पर भी उसमें से एक भी बूंद नहीं मिल सकती'।[८] (उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासा जाय)। स्नेह-रहित जनों पर एक अन्योक्ति देखिये, तिल माध्यम है।—'तिलों का तिलत्व तभी तक है, जब तक उनमें स्नेह भरा है, स्नेह (तेल) के निकल जाने पर उनमें केवल खलत्व (खल्ली) ही रह जाता है'।[९] (स्नेह रहित व्यक्ति खल नहीं तो क्या है?), अपने महान् आश्रय दाता को छोड़कर दर-दर फिरने वालों पर एक अन्योक्ति है, "जो शंख रत्ननिधि समुद्र को

१—३८७।१, २—४१८।४, ३—३९५।६, ४—३९९।१ ५—४४२।१ ६—३५३।१; ७—४२२।७; ८—३८३।२; ९—४०६।२;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर किनारे चले जाते हैं उनकी कौन सी दुर्दशा नहीं होती ? वे घर-घर फूँककर बजाये जाते हैं" ।[१]

तीर्थेश्वर की महत्ता पर एक छन्द मिलता है--"संपूर्ण पृथ्वी को जीतना जीतकर त्यागना, तप से पालन करना यह सब बिना शांति तीर्थेश्वर के कौन कर सकता है" ?[२]

प्रकृति निरीक्षण संबंधी दो-एक उद्धरण द्रष्टव्य हैं—सूर्यास्त के समय व्याकुल चक्रवाक ने कंठ में मृणाल का खंड डालकर उसे छिन्न नहीं किया। मानो बाहर निकलने वाले जीव के लिये उसने अर्गला लगा दी।[३] इसी प्रकार का एक संस्कृत उद्धरण काव्य-प्रकाश में भी मिलता है जिसे गुलेरी जी ने सुभाषितावली में भी देखा है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशङ्का विलोक्य प्रियाम्।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥

प्रकृति निरीक्षण संबंधी दूसरी उक्ति एक नायिका की है। वह अपनी सखि से कहती है,--'हे सखि, चंपक कुसुम के मध्य में प्रविष्ट भ्रमर ऐसा शोभता है मानो इन्द्रनील मणि कनक में जड़ दी गई है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश-व्याकरण में आये हुए उद्धरणों में शृङ्गार, वीर और इनका तथा अन्य रसों का मेल है। कहीं नीति सम्बन्धी उक्तियाँ हैं, कहीं धार्मिक सूक्तियाँ या अन्योक्तियाँ[४]। इन उद्धरणों में अनेक प्रकार के छन्द हैं—गाहा, रासक, रड्डा, दोहा आदि, जिनमें दोहा प्रमुख है।

१—४२२।३; २—४४१।२; ३--४४४।१।

४—श्री मधुसूदन मोदी ने अपनी 'हेमसमीक्षा' नामक गुजराती पुस्तक में हेमचन्द्र के दोहों की विविधता की चर्चा की है 'और भावात्मक दृष्टि से भी अठारह वीररस प्रधान, साठ उपदेशात्मक, दश जैनधर्म सम्बन्धी, पाँच पौराणिक (एक राधाकृष्ण सम्बन्धी, एक वामनावतार सम्बन्धी एक राम तथा रावण सम्बन्धी और दो महाभारत सम्बन्धी लगते हैं)। शेष दोहों में से आधे तो शृङ्गाररस के लगते हैं और दो दोहे मुंज के लगते हैं।'

श्री मोदी ने अपभ्रंश सूत्रों की वृत्ति में हेमचन्द्राचार्य के लगभग १७७ दोहों की चर्चा की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना हेतु और अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अलंकार भी हैं जो काव्यात्मकता को और भी बढ़ा देते हैं। अनेक उद्धरण कबीर, गोरख आदि परवर्त्ती कवियों के काव्यों में प्रेरणादायक हैं। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने बहुत ही सूझ-बूझ से इनका संग्रह किया है। भाषा ही नहीं साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी इनका अध्ययन आवश्यक है।

३——अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों का स्रोत तुलनात्मक अध्ययन

अपभ्रंश व्याकरण में उद्धृत पद्यों पर विचार करनेवाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्त्तन के साथ संगृहीत हैं। कुछ विद्वानों ने अनेक पद्यों के मूल रूपों का भी पता लगाया है। जहाँ तक मुझे पता है उनकी चर्चा निम्नलिखित है——

रामसिंह (१००० ई०) के 'पाहुड़ दोहा' में पाँच दोहे ऐसे मिलते हैं जिन्हें कुछ परिवर्त्तनों के साथ हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है। **प्रथम**—

'सयलु वि कोवि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहँ णिम्मलएण॥' (पाहुड़० ८८)

[सभी कोई सिद्धत्व के लिए तड़फड़ाते हैं पर सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने से मिल सकता है।] हेमचन्द्र के दोहों में इसका परिवर्तित रूप द्रष्टव्य है,——

'साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहों तणेण।
वड्डप्पणु परि पावियइ हत्थिं मोकलडेण॥' (३६६।१)

हेमचन्द्र ने 'सर्व' के स्थान पर 'साहु' के प्रयोग का यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार उन्होंने पाहुड़ के 'सयलु' का संशोधन किया है। इसी प्रकार 'सिद्धत्तण' के स्थान पर 'वड्डत्तण' और 'वड्डप्पण'; 'चित्तहं णिम्मलएण' की जगह 'हत्थिं मोकलडेण' रखकर हेमचन्द्र ने दोहे को धार्मिकता से उठा कर लौकिकता के क्षेत्र में रख दिया है। इसी प्रकार 'पाहुड़ दोहा' का दूसरा दोहा भी द्रष्टव्य है—

"छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घ थडिहिं घिप्पंति।
तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंत ण भंति॥' (१५१)

[गुणों के रत्नाकर (समुद्र) को छोड़कर विक्री की वस्तुओं की ढेर में फेंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते हैं और वहाँ शंखों का क्या विधान होता है? वे फूंके जाते हैं, इसमें भ्रांति नहीं।] अर्थात् जो सत्संगति छोड़ देते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है।

हेमचन्द्र के यहाँ यह दोहा निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

"जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लन्ति।
तहं सङ्खहं विट्टालु पर फुक्किज्जन्त भमन्ति॥" (४२२।३)

यहाँ हेमचन्द्र ने 'छंडेविणु' को 'छड्डेविणु' तो किया ही, द्वितीय चरण को एकदम बदल दिया है, साथ ही 'तहिं' को 'तहं' एवं 'विहाणु' को 'विट्टाणु' किया और 'फुकिज्जंति ण भंति' में भी कुछ परिवर्तन किया है। वास्तव में यह उदाहरण 'विट्टालु' के लिए है जो 'अस्पृश्यसंसर्ग' के अर्थ में अपभ्रंश में प्रयुक्त है।

इसी प्रकार 'पहुड़ दोहा' का तीसरा उदाहरण--

'अखइ णिरामइ परमगइ अज्जवि लउ ण लहंति।
भग्गी मणहं ण भंतडी तिम दिवहडा गणंति॥' (१६९)

(अक्षय, निरामय परमगति में अभी तक लय को प्राप्त नहीं होते और मन की भ्रान्ति मिटी नहीं। इसी प्रकार दिन गिनते हैं अर्थात् आत्मा में लीन हुए बिना सच्चा आत्मकल्याण नहीं हो सकता। हेमचन्द्र के यहाँ इसका निम्न लिखित रूप हो गया है--

"प्राइव मुणिहँ वि भन्तडी तें मणिअडा गणन्ति।
अखइ णिरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति॥"
(४१४।२)

'प्राइव' के लिए यह उदाहरण दिया गया है। अतः हेमचद्र ने 'प्राइव' तो जोड़ ही दिया है। इसके अतिरिक्त मणियों की गणना करने की बात करके 'दिवहडा' की गणना की अपेक्षा दोहे को अधिक सरस बना दिया है।

पाहुड़ का चौथा उद्धरण है—

"जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि (°स) हूवइ (°उ) जीवडा काइं समाहि करिज्ज॥"
(१७६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है। वैसे यदि चित्त विलीन हो गया तो जीव समरस हो गया। और समाधि में क्या किया जाता है ?*]

हेमचन्द्र के यहाँ—

"लोणु विलिज्जइ पाणिएँण अरि खल मेह म गज्जु।
बालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु॥" (४१८।५)

हेमचन्द्र ने पाहुड़वाले दोहे का भावात्मक संशोधन भी किया है। समाधि सम्बन्धी 'समरसता' अर्थात् दार्शनिकता से ऊपर उठाकर उससे रतिवृत्ति को जागरित किया है। अतः यह दोहा लौकिक शृंगारिक बन गया है।

पाहुड़ का पाँचवाँ दोहा है—

"जइ इक्कहि पावीसि पय अंकय कोडि करीसु।
णं अँगुलि पय पयड णहं जिम सव्वंगय सीसु॥" (१७७)

[यदि एक (ही) पद को पा गया तो अकृत कौतुक करूँगा। जैसे अंगुलि और पद प्रकट करने से शेष सब अंग अवश्य प्रकट हो जाते हैं।]

हेमचन्द्र के यहाँ इसका निम्नलिखित रूप है—

"जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गे पइसीसु॥"
(३९६।४)

हेमचन्द्र ने इस दोहे को भी पाहुड़ की अपेक्षा सरस बना दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि हेमचन्द्र ने उपर्युक्त पाहुड़ दोहों को संशोधित एवं परिष्कृत किया है। उन्हें साहित्यिक रूप दिया है। भाषा की दृष्टि से भी हेमचन्द्र ने उन दोहों को परिमार्जित किया है। हेमचन्द्र का अपभ्रंश प्रतिमित (Standard) अपभ्रंश है। उपर्युक्त दोहों की चर्चा डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड़ दोहा' की भूमिका में की है।

---

* इससे मिलता-जुलता एक दोहा बौद्ध सिद्ध कवि कण्हपा (१०वीं शती ई०) का भी मिलता है, :—

"जिम लोणु विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते समणित्त॥"

[जैसे पानी से लवण मिलकर समरस हो जाता है, उसी प्रकार गृहिणी चित्त से मिले तो समरसता हो।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार जैन मुनि जोइंदु (१००० ई०)-रचित 'परमाप्प पयास' (परमातम प्रकाश) में भी तीन ऐसे दोहे मिलते हैं जिनका सम्बन्ध हेमचन्द्र के दोहों से जोड़ा जा सकता है ।

प्रथम दोहा—

"पंचहं णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइं तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥" (२७१)

[पाँचो के नायक को वस में करो, जिससे अन्य सभी बस में होते हैं । तरुवर के मूल विनष्ट होने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं ।]

हेमचन्द्र का निम्नलिखित पद्य इससे तुलनीय हैं—

"जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइँ ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिं पण्णइँ ॥"

(४२७।१)

यह उदहरण 'अवसें' के लिए दिया गया है । जोइंदु ने इसकी जगह 'अवसइं' रखा है । इन्द्रियों और पर्णों की नपुंसकता ने यहाँ 'अधिन्नइँ', 'अन्नइँ', 'पण्णइँ' कराकर दोहा का प्रसिद्ध रूप विगाड़ दिया है । हेमचन्द्र ने छन्द की दृष्टि से इसमें परिवर्त्तन कर दिया है । संभव है कई स्वरों को गटकते हुए इसे दोहे के समान भी कोई पढ़े ।

जोइंदु का दूसरा दोहा है—

"बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खंतहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥"

[पर तत्त्व को देखते हुए मनुष्य जन्म की बलि कर दो अथवा मनुष्य का जन्म जो देखने में परमोत्कृष्ट लग रहा है उसकी बलि कर दो । क्योंकि यदि इसे (पानी या मिट्टी में) रखा जाय तो सड़ जाता है और यदि जलाया जाय तो छार हो जाता है ।] यहाँ मनुष्य के शरीर की नश्वरता पर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिससे पर तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है ।

हेमचन्द्र के यहाँ इस दोहे का रूप है —

"आयहो दड्ढ कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥"

(३६५।३)

यहाँ दोहे का पूर्वार्द्ध हेमचन्द्र ने बदल दिया है किन्तु सौंदर्य अक्षुण्ण है ।

जोइंदु का तीसरा दोहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुंडिग्रउ सीसु खडिल्लउ जासु॥" (२७०)

[विषयों के रहते हुए जो उनका परिहार करता है उसके मैं बलि करता हूँ (जाता हूँ)। जिसका शिर खडिल्ल है (अर्थात् जो खल्वाट या गंजा है) वह तो दैव से ही मुड़ा गया है। इन्द्रियार्थों के प्राप्त होने पर भी जो उन्हें छोड़ देता है—कालिदास ने भी उन्हीं को धीर कहा है।

हेमचन्द्र के दोहे से तुलनीय है—

"सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डिग्रउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु॥"
(३८९।१)

यहाँ 'विषय' का 'भोग' और 'खडिल्लउ' का 'खल्लिहड' प्रमुख परिवर्त्तन है। इससे भाव-साम्य वाला एक छन्द 'दशवैकालिक' में द्रष्टव्य है—

"वत्थ गन्धमलंकारं इत्थीग्रो सयणाणि य
ग्रच्छन्द जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ।
जे य कन्ते पिये भोए लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥"
(११।२, ३)

इस तरह हम देखते हैं कि जोइन्दु और हेमचन्द्र के उदाहरणों में कितना साम्य है। हेमचन्द्र ने जोइन्दु के दोहों में कुछ जोड़-तोड़ कर उपस्थित किया है।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत दोहों के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् रिचार्ड पिशेल का कथन है कि "उन्हें (हेमचन्द्र के दोहों को) देखकर कुछ ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसे संग्रह से लिए गए हैं जो 'सतसई' के ढङ्ग का है जैसा कि त्साखारिम्राए (गोएर्टिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन १८८४ पे० ३०९) ने बताया है। हेमचन्द्र के पद ४।३५७,२ और ३ सरस्वती कंठाभरण के पेज ७६ में मिलते हैं, जिसमें उनकी सविस्तर व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ४।३५३, चंड २.२७ (१७ सुभद्र झा के अनुवाद में) (पेज ४७) में मिलता है।······ हेमचन्द्र ४।४२०·५ सरस्वती कंठाभरण के ९८ (P.158 सुभद्र झा) में मिलता है और ४।३६७.५ शुकसप्तति के पेज १६० में आया है।*

* डा० हेमचन्द्र जोशी द्वारा हिन्दी अनूदित रिचार्ड पिशेल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पिशेल ने हेमचन्द्र के ४।३५७,२ और ३ जिन दो छन्दों की चर्चा की है वे दो छन्द नहीं अपितु एक ही छन्द है, और वह भोजराज (१०५७ ई०) के सरस्वती कंठाभरण' (काव्यमाला ९४ द्वितीयावृत्ति १९३४ ई०) के प्रकीर्ण घटना के उदाहरण में दूसरे परिच्छेद के ७६ वें उदाहरण के रूप में सचमुत्र सुदीर्घ व्याख्या के साथ उपलब्ध है। यथा—

"एक्कहिं अच्छिहिं सावणु अण्णहि भद्दवउ,
माहउ महिअलसत्थरि गण्डत्थल सरउ।
अङ्गहिं गिह्म सुहच्छिइ तिलवण मग्गसिरु,
मुद्धिहिं मुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिरु ॥"

(२।७६)

यहाँ हम देखते हैं कि हेमचन्द्र का ३५७।२ जो सम्भवतः रासक या आभाणक छन्द है कुछ परिवर्तनों के साथ सरस्वती कंठाभरण में प्राप्त है। 'तहेँ मुद्धहेँ मुह पङ्कइ' का प्रमुख परिवर्तन हेचमन्द्र में अधिक सरस है। सरस्वती कं० में भी यह उदाहरण अन्यत्र से ही लिया गया है।

इसी प्रकार एक दूसरा स्थल जिसकी चर्चा पिशेल ने की है निम्नलिखित परिवर्तनों के साथ विरोधमूलक असंगति के उदाहरण रूप में यों मिलता है—

"सा उप्पडी गोट्ठउहि णोक्खी कावि विसगण्ठि।
भिडिय पचेल्लिउ सो मरइ जस्स ण लग्गइ कण्ठि ॥"

(३।६२)

हेमचन्द्र ने अपने यहाँ इस दोहे का स्वरूप सम्भवतः अक्षुण्ण रखा है। हेमचन्द्र (४२०।३) में 'साव सलोणी गोरडी', 'भडु पच्चलिउ' इत्यादि परिवर्त्तनों के द्वारा रसात्मकता भी कम नहीं आई है। यह उदाहरण 'प्रत्युत' के स्थान पर 'पच्चलिउ' आदेश का है जो सरस्वती कंठाभरण 'पचेल्लिउ' के रूप में विद्यमान है।

इसी प्रकार पिशेल ने शुकसप्तति के (समय अज्ञात) पे० १६७ वाले जिस उद्धरण की चर्चा की है जिसे हेमचन्द्र के (३६७।५) से तुलनीय बताया है वह निम्नलिखित रूप में शुकसप्तति की ५७ वीं कथा में मिलता है;

"जइ ससिणेही तउ मई जइ जीवइ ससिणेह।
दुहिअ पराअहिं गअधर किं गच्छसि खल गेह।"

(श्लोक सं० २५७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने भाषा, छन्द और साहित्यिकता तीनों दृष्टियों से इसे सुव्यवस्थित किया है (दे० हेमचन्द्र ३६७।४)।

पिशेल ने चंड के जिस उद्धरण की चर्चा की है, मैं समझता हूँ रेवती कान्त भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'प्राकृत लक्षण' के (१।१४) सूत्र के उदाहरण रूप में वह प्राप्त है,—

"कमलइं मल्लवि अलिउलइं करिगण्डाइं महंति।
असुलहं एत्थ ण जाहं भलि ते ण वि दूरं गणं ति।"

यह दोहा हेमचन्द्र (४।३५३।१) से तुलनीय है। हेमचन्द्र के उद्धरण में परिवर्तन नहीं के बराबर है।

हेमचन्द्र के (४।४४७) सूत्र के उदाहरण में जो 'शद माणुशमंशभालके' आदि गद्यवत् आया है, वह सरस्वती कंठा भरण में भी प्राप्त होता है जो वेणी-संहार नाटक का है।

"शद माणश-मंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शंचिदे।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि।"

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत (४४८।१) 'हेट्ठठिअ' आदि गाहा वाक्पतिराज (७३६ ई०) कृत गउडवहो के मंगलाचरण में प्राप्त होता है,—

"हेट्ठ-ट्ठिअ सूर णिवारणाअॅ छत्तं अहो इव वहन्ती।
जअइ ससेसा वाराह-सास-दुरुक्खआ पुहवी॥"
(मंगलाचरण का १५ वां श्लोक)

यहां 'णिवारणाय' और 'दुरुक्खया' के स्थान पर क्रमशः 'णिवारणाअॅ' 'दुरुक्खआ' है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बताया है कि हेमचन्द्र की (४०९।१) वाली गाथा राजशेखर सूरि (१३०० ई०) कृत चतुर्विंशति प्रबंधगत श्रावक-प्रबन्ध में भी मिलती है। इसी प्रकार उन्होंने 'पुत्ते जाएं कवणु गुणु (३९५।६) से परिवर्तित 'बेटा जायां कवणु गुणु' की चर्चा की है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस दोहे के साथ ही 'एइ ति घोड़ा एइ थलि' (३३०।४) इन दोनों दोहों को कुछ परिवर्त्तनों के साथ भलसीसर के ठाकुर भूरिसिंह जी शेखावत के विविध संग्रह में हेमचन्द्र के नाम से उद्धृत हैं। (दे० 'पुरानी हिन्दी' पृ० १६ और १५३)।

साहित्यिक मूल्यांकन वाले प्रकरण में सन्देश रासक (राहुल जी के मत से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०१० ई०) वाले दोहे की चर्चा हो चुकी है, 'जसु पवसन्त ण पवसिया' हेमचन्द्र (४१९।३) से वह तुलनीय है।

गुलेरी जी ने सोमप्रभ (११९५ ई०) की कुछ रचनाओं को उद्धृत किया है।[1] उनमें पाँच ऐसे दोहे हैं जिनकी तुलना हेमचन्द्र के पाँच दोहों से की जा सकती है। इनमें बहुत कम परिवर्त्तन है।

प्रथम—"माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जनकर पल्लविहिं दंसिज्जंतु भमिज्ज।।[2]"
(पुरानी हिन्दी पृ० ८१)

द्वितीय—"मइं जाणियउँ पियविरहियह कविधर होइ वियालि।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि।।[3]"
(पु० हिं० पृ० ८८)

तृतीय—"मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपय पह देह। (समस्या)
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह।।[4]" (पूर्ति)
—(पु० हिं० पृ० ८९)

चतुर्थ—"चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु। (समस्या)
सासानलिण झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तु।।[5]" (पूर्ति)

पञ्चम—"अम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति।।"
(पु० हिं० पृ० ९२)

उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से हेमचन्द्र के छन्द जिनमें कुछ छन्दों में 'दोहा' के लक्षण घटित नहीं होते स्पष्ट हो जाते हैं। इस स्पष्टता के लिए सोमप्रभ के दोहों की तुलना महत्त्वपूर्ण है।

इस तरह हम देखते हैं कि हेमचंद्र के अपभ्रंश व्याकरण में उद्धृत अनेक पद्य उनके पूर्ववर्त्ती जोइंदु, रामसिंह, भोजराज, चंड, अद्दहमाण, भट्टनारायण, वाक्पतिराज, अज्ञात लेखक की रचनाओं क्रमशः परमाप्प पयास, पाहुड़ दोहा,

---

१—पुरानी हिन्दी पृ० ८१ और उसके बाद।

२—हेमचन्द्र ४१८।४ से तुलनीय, परिर्त्तन नहीं के बराबर है।

३—तुलनीय, हेमचंद्र ३७७।१ या ४०१।५।

४-हे० चं० ३३०।१।

५—हे० चं० ३९५।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरस्वतीकंठाभरण, प्राकृतलक्षण, सन्नेह रासय[१], वेणीसंहार, गउडवहो और शुकसप्तति से लिए गए हैं भले ही उनमें हेमचन्द्र ने न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्त्तन भी कर दिया है। हेमचन्द्र के किंचित् परवर्त्ती सोमप्रभसूरिकृत कुमारपालप्रतिबोध और राजशेखरसूरिकृत चतुर्विंशति प्रबन्ध में हेमचन्द्र के उदाहरण प्राप्त हैं। सम्भव है कि उपर्युक्त अनेक ग्रन्थों में उद्धृत पद्य किसी पूर्ववर्त्ती स्रोत से लिये गए हों और हेमचन्द्र ने साक्षात् या परम्परा से प्राप्त कर कुछ परिवर्त्तनों के साथ उन्हें ग्रहण कर लिया हो। सम्भव है, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पद्यों में हेमचन्द्र के अपने भी दोहे या पद्य हों। इसके लिए पर्याप्त अनुसन्धान आवश्यक है।

४—अपभ्रंश साहित्य पर एक दृष्टि

अपभ्रंश माध्यकालीन और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के बीच की कड़ी है, जिसका अधिक लगाव परवर्त्ती भाषाओं अर्थात् आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से है। बीसवीं शती के प्रथम दशक तक अपभ्रंश साहित्य की विपुलता का पता नहीं था। भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप आज अपभ्रंश-साहित्य का विशाल भंडार उपलब्ध है। विद्वानों ने भरत द्वारा निर्दिष्ट उकारबहुला भाषा को अपभ्रंश ही कहा है। भरत का समय प्रथम शती ई० पू० के करीब माना जाता है। प्रथम शती ई० पू० से चौथी शती ई० तक कालिदास का भी समय माना जाता है। कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश छंदों की रचना की है। दंडी (छठी-सातवीं शती) ने 'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः' कहकर काव्य में अपभ्रंश का उल्लेख किया। इसी प्रकार प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण चंड (चौथी शती), पुरुषोत्तम (बारहवीं शती), क्रमदीश्वर, हेमचन्द्र, लक्ष्मीधर और सिंहराज आदि ने भी अपभ्रंश-भाषा का व्याकरण बनाया है। किसी-किसी ने तो यथा—हेमचन्द्र और लक्ष्मीधर आदि ने अपभ्रंश के दोहों आदि विभिन्न छंदों को यथावत् उद्धृत भी किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में लक्षण-ग्रन्थकारों ने एवं प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के लिए पर्याप्त पृष्ठभूमि तैयार की है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि ई० की प्रथम शती से छठी-सातवीं शती तक अपभ्रंश-भाषा और

१—'सन्नेह रासय' को अनेक विद्वान् हेमचन्द्र के बाद का भी मानते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ ही अपभ्रंश साहित्य की रचना शनैः शनैः हो रही थी। और सातवीं शती से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती तक अपभ्रंश साहित्य के विकास एवं ह्रास का काल है।

राजशेखर ने अपभ्रंश को सुभव्य बताया और राजदरबारों में उसके कवियों के लिए पश्चिम की ओर स्थान देने की चर्चा की है। इससे तत्कालीन अपभ्रंश-साहित्य एवं भाषा का मूल्यांकन किया जा सकता है।

अपभ्रंश के अनेक नाम मिलते हैं, यथा—अपभ्रंश, अवहंस, अपभ्रष्ट, अवहट्ट आदि। अपभ्रंश-भाषा के विविध भेदों की चर्चा की जाती है। नागर, उपनागर और व्राचड़ के अतिरिक्त सत्ताईस भेदो की चर्चा मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में की है। उन सत्ताइसों अपभ्रंशों के साहित्य का पता लगाना बहुत कठिन है। इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की पूर्ववर्त्ती भाषाएँ अपभ्रंश रही हैं जो तत्तत् प्राकृतों से निकली हैं। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश ये प्रसिद्ध प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ हैं। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि देश के आधार पर प्राकृतों या अपभ्रंशों के नाम नहीं हैं, पर ध्यान देने की बात है कि आज तो हम प्रदेशों के आधार पर ही अधिकतर भाषाओं के नाम लेते हैं। बंगाल की बंगला, आसाम की असमिया, उड़ीसा की उड़िया, महाराष्ट्र की मराठी, गुजरात की गुजराती, पंजाब, सिंध, कश्मीर और बिहार आदि की भाषाएँ पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, बिहारी आदि नाम स्थान के आधार पर ही लेते हैं। यदि उन भाषाओं में परस्पर अन्तर है तो निश्चय ही उनकी आधारभूत भाषाओं में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होगा। आधुनिक अनेक विद्वानों ने इतनी अधिक अपभ्रंश भाषाओं को न मान कर क्षेत्र के आधार पर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी चार, और कुछ ने उत्तरी न मान कर तीन ही अपभ्रंश भाषाओं की स्वीकृति दी है। कुछ नव्य विद्वान् तो पूर्वी और पश्चिमी दो ही प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं और उनके साहित्य पर ध्यान आकृष्ट करते हैं।

अब तक की प्राप्त अपभ्रंश की साहित्यिक सामग्री पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि अधिकतर अपभ्रंश-साहित्य जैन-भांडागारों में प्राप्त हुआ है। अर्थात् अधिकतर जैन अपभ्रंश-साहित्य सामने आया है। यह जैन अपभ्रंश-साहित्य जैनों द्वारा लिखा गया है। इसीलिए अनेक विद्वान् इस साहित्य को साम्प्रदायिक और इसकी भाषा को बनावटी भाषा भी मानते हैं। ये रचनाएँ पश्चिमी क्षेत्रों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त हुई हैं। अतः इन्हें पश्चिमी अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत रख कर इन पर विचार किया जाता है। किन्तु, यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि पश्चिम का प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य जैन अपभ्रंश ही नहीं है या धर्माश्रित साहित्य ही नहीं है।

जैनों द्वारा रचित पुराण-साहित्य, आख्यानक-काव्य, कथा-काव्य, और उपदेशात्मक धार्मिक और खंडनमंडनात्मक प्रशस्तिमूलक रचनाएँ तो मिलीं ही, पश्चिम में इनके अतिरिक्त विशुद्ध लौकिक शृंगारिक काव्य भी मिले—चाहे खंड-काव्य के रूप में यथा—संदेश-रासकादि अथवा हेमचन्द्रादि के व्याकरणादि ग्रन्थों में आये मुक्तकों के रूप में। अपभ्रंश-साहित्य की पर्याप्त सामग्री पूर्वीय क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं, भले ही वह तिब्बत या नेपाल में प्राप्त हों। म० महोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से ऐसी रचनाओं का संग्रह निकाला है। बाद में अनेक अन्य विद्वानों ने भी जिनमें राहुल जी प्रमुख हैं, इस साहित्य पर अनुसंधान किया। यह साहित्य बौद्ध-धर्म से अनुप्राणित होने के कारण बौद्ध अपभ्रंश भी कहा जाता है और पूर्वी अपभ्रंश भी। बंगाल के अनेक विद्वानों ने इस साहित्य को बंगला की निधि कहा है पर राहुलजी जैसे विद्वानों ने इसे अस्वीकार किया है और इसको हिन्दी या भोजपुरी या मगही का मूल रूप बताया है। यद्यपि काशी की आधुनिक बोली की पूर्ववर्त्ती भाषा की सूचना देनेवाली दामोदर भट्ट की 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' नामक रचना मिली है। इसके साथ ही 'प्राकृतपैंगलम्' को रखकर अनेक विद्वानों ने मध्यवर्त्ती अपभ्रंश की भी चर्चा की है, पर इसका इसलिए कोई मूल्य नहीं कि काशी भी पूर्वी क्षेत्र में है और इस प्रकार 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' 'प्राकृतपैंगलम्', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका' इन सभी ग्रन्थों की भाषाओं को पूर्वी अपभ्रंश का ही नमूना कहा जा सकता है। इस प्रकार से यह निश्चय किया जा सकता है कि सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य की रचनायें, क्षेत्र-भेदसे पश्चिमी और पूर्वी दो भेदों में विभक्त हैं। उनके रूपों को ध्यान में रखकर प्राकृताभास, स्टैण्डर्ड या प्रतिमित अपभ्रंश और अवहट्ट इन तीन नामों से समझा जाता है।

अपभ्रंश-साहित्य की रचनाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में मिलती हैं। पश्चिमी अपभ्रंश में अधिकतर प्रबन्धकाव्य लिखे गए और पूर्वी अपभ्रंश में अधिकतर मुक्तक। यद्यपि कीर्तिलता और कीर्तिपताका में भी कथात्मकता है पर इन्हें छोड़ पूर्वी अपभ्रंश का विपुल साहित्य मुक्तक ही है और काव्यतत्त्व की दृष्टि से महत्त्वहीन। भाषाविकास या सांस्कृतिक दृष्टि से उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्ययन या अनुसंधान अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु पश्चिमी अपभ्रंश की विपुल सामग्री धार्मिक या साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षणीय नहीं। महापण्डित राहुलजी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसीलिये उस साहित्य की महत्ता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियों की दो चीजों को अपभ्रंश से विकसित बताया है– १—"पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृङ्गारिक काव्य, नीति-विषयक फुटकर रचनायें और लोक प्रचलित कथानक।" और २- –"पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया सन्तों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना, योगपद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ[१]।" किन्तु डॉ० नामवर सिंह ने इसे अस्वीकार करते हुए बताया है कि पश्चिमी अपभ्रंश के जोइन्दु और रामसिंह भी सरह और कण्ह के ही समान रूढ़ि-विरोध करते हैं। स्वयम्भू और पुष्पदंत धर्म-विशेष से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित-काव्यों में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक-रूढ़ियों का विरोध किया गया। डॉ० नामवर सिंह उस युग के निर्मित आदर्शों और मर्यादाओं यथा—कर्मफल बन्धन के तोड़ने में जैन और बौद्ध दोनों कवियों को असमर्थ मानते हैं। कुछ तर्कों के आधार पर डॉ० नामवर सिंह ने आचार्य द्विवेदी की मान्यता को अस्वीकार करते हुए उसे विचारणीय बताया है। उन्होने कहा है—"मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखलाई पड़ता।" "फिर भी अपभ्रंश साहित्य के भीतर रूढ़िपोषक और नवोन्मेष शालिनी दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व" वे असंदिग्ध रूप में मानते हैं। वे लिखते हैं कि ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां दो विभिन्न प्रदेशों और कवियो में नहीं बल्कि एक ही कवि की एक ही रचना के अन्तर्गत देखी जा सकती है।"[२] उन्होने इन्हें स्वयम्भू की रामायण में, पुष्पदन्त के महापुराण में और अद्दहमाण के सन्देशरासक में भी दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत अन्तर्विरोधों की चर्चा विभिन्न रूपों में की गई है और डॉ० नामवर सिंह क्षेत्रीयता को विरोधी प्रवृत्ति का आधार नहीं मानते हैं। यही बात आदिकालीन हिन्दी साहित्य के भीतर भी है। आचार्य शुक्ल ने असमंजस में पड़कर उसे 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति का युग'

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका (सातवां संस्करण , पृष्ठ २५

२—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ २६९ और उसके बाद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा और आचार्य द्विवेदी ने 'स्वतोव्याघातों का युग, किन्तु दोनों दो बातें हैं, जिनका खुलासा डॉ० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक में किया है। उन्होंने लिखा है—"लेकिन अन्तर्विरोध अथवा स्वतोव्याघात एक चीज है और उस लोक-प्रवृत्ति को अनिर्दिष्ट कहना बिल्कुल दूसरी चीज। हिन्दी-साहित्य के आदि काल में प्रवृत्ति की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी, दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्द्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामंतों के चरित्रवर्णन, युद्धवर्णन, केलिविलास, बहुविवाह के लिये विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जानेवाली जातियों के धार्मिक असन्तोष, रूढ़ि-विरोध, बाह्याडम्बर-खंडन, जाति-भेद की आलोचना, उच्चतर आचार्य, व्यापक भगवत् प्रेम, मानवीय आत्मगौरव आदि से था। एक का नाम है तथाकथित वीरगाथाकाव्य और दूसरी का तथाकथित योगधारा।"[१]

यहाँ एक बात और भी स्पष्ट करने योग्य है कि हिन्दी और अपभ्रंश में क्या अन्तर है? कुछ विद्वानों ने हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव बताया है, और कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश का ही हिन्दी रूप में विकास बताया है। प्रभाव मानने पर दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति मान्य होगी और विकास मानने पर एक ही आधार होगा। अपभ्रंश का ऐतिहासिक विकास है जिसे हम हिन्दी रूप में देखते हैं। इसीलिए पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने उसे पुरानी हिन्दी कहा और महा पं० राहुल ने भी उसे हिन्दी कहने में संकोच नहीं किया। सरह और स्वयम्भू को वे हिन्दी के कवियों में ही विवेचित करना उचित मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"और अपभ्रंश? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्त्तन हो गया। उसका ढाँचा ही बिल्कुल बदल गया, उसने नये सुबन्तों, तिङन्तों की सृष्टि की, जिससे वह हिन्दी से अभिन्न हो गई है और संस्कृत-प्राकृत पाली से अत्यन्त भिन्न[२]।"

इस प्रकार से हिन्दी और अपभ्रंश की एक मौलिक समस्या पर हमारा ध्यान चला जाता है, जिसके विषय में डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है कि

१—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ २६६—२६७।

२—हिन्दी काव्यधारा (अवतरणिका पृष्ठ ९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अपभ्रंश और हिन्दी के सम्बन्ध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिन्दी के कुछ काव्य-रूपों, काव्य-रूढ़ियों, उपमाओं और छन्दों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब ऊपरी बातें हैं।[1]" "मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से हिन्दी-साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास-क्रम में हिन्दी साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतन्त्र हो गया।[2]"

यहाँ पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश साहित्य पर क्रमशः ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य

सर्वप्रथम उसकी विशालता के कारण पश्चिमी अपभ्रंश पर हमारा ध्यान जाता है। पश्चिमी अपभ्रंश-साहित्य के लेखक दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं जैन और अजैन। और इसी आधार पर उन साहित्य को भी जैन सम्प्रदायानुप्राणित और विशुद्ध या लौकिक साहित्य रूप से हम समझते हैं। जैन अपभ्रंश में भी जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है प्रबंधात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएं मिलती हैं। इनमें भी सर्वप्रथम पश्चिमी अपभ्रंश भाषा के जैन धर्मानुरंजित प्रबंधकाव्यों पर हमारा ध्यान जाता है। जैनों द्वारा लिखित तीन प्रकार की प्रबंधात्मक अपभ्रंश रचनाएँ मिलती हैं,—

१—पुराण साहित्य
२—चरित काव्य और
३—कथा काव्य

पुराण साहित्य

जैनों के पुराण-ग्रन्थों में उनके तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों आदि महापुरुषों के चरित निबद्ध हैं। तीर्थंकरों में भी ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी को लेकर अधिकतर पुराण ग्रन्थ लिखे गए हैं। उनके 'पउम चरिउ' (पद्मचरित) में राम का चरित अंकित किया गया और हरिवंश पुराण में कृष्ण का। निम्नलिखित पुराण-ग्रन्थ माने जाते हैं—

१—हिं० के वि० में अपभ्रंश का योग (पृ० २६१)
२—वही (पृ० २६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—'पउम चरिउ'— २ 'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंशपुराण' इनके लेखक थे स्वयंभू जो आठवीं-नवीं शती ई० में कविराज और चक्रवर्त्ति उपाधि से भूषित थे।

पउमचरिउ या पद्मचरित ९० संधियों एवं १२ हजार पद्यों में विभक्त है। इसमें पाँच कांड हैं—१—विद्याधरकांड २—अयोध्याकांड ३—सुन्दरकांड और ५—उत्तरकांड। प्रथम कांड में २०, द्वितीय में २२, तृतीय में १४, चतुर्थ में २१ और पंचम में १३ सन्धियाँ हैं। पउमचरिउ की कुल ९० सन्धियों में ८३ ही स्वयंभू के द्वारा लिखी गई हैं। अन्तिम शेष सात उनके आत्मज त्रिभुवन द्वारा जोड़ी गई हैं।

स्वयंभू के पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था। इनके दो पत्नियाँ—आइच्चब्बा और सामियब्बा नाम की थीं। इन्हीं में से एक की प्रेरणा से विद्याधरकांड और दूसरी की प्रेरणा से अयोध्याकांड कवि ने लिखा था। इनके कई पुत्र थे जिनमें त्रिभुवन अद्भुत था। उसने वाण-तनय के समान पिता की कीर्त्ति में अपनी ओर से भी कुछ जोड़जाड़ किया। वाण की कादंवरी तो अधूरी थी, उसकी पूर्त्ति की आवश्यकता थी, किन्तु स्वयंभू की रचनाएं अधूरी नहीं थीं। त्रिभुवन ने उन रचनाओं में अपनी ओर से कुछ न कुछ जोड़कर उनका विस्तार मात्र किया है अथवा अपनी ओर से कथा को जैन धर्मानुसार उसी में परिणति की है।

'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंश पुराण' में कवि ने अपने पूर्ववर्त्ती निम्न-लिखित शास्त्रकारों एवं कवियों का नाम लिया है—इन्द्र, भरत, व्यास, पिंगल, भामह, दंडी, वाण, हर्ष, और चतुर्मुख इन सबों से कवि ने कुछ न कुछ सीखा था अतः सबों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है।

राहुल जी ने बताया है कि 'हिन्दी काव्य धारा' में संगृहीत सभी कवियों में श्रेष्ठ स्वयंभू हैं। उनका कहना है कि "वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था।" उन्हें आश्चर्य और क्रोध दोनों होता है कि 'लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा। स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकि माना जाता है। किन्तु 'पउम चरिउ' और 'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंश पुराण' को देखकर उसे वाल्मीकि और व्यास दोनों कहा जा सकता है। यद्यपि यह जैन कवि है पर धार्मिकतावाले अंशों पर यदि ध्यान न दिया जाय तो उसकी जैसी उच्च कोटि की कविता अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इसीलिए राहुलजी ने तुलसी के 'क्वचिदन्यतोऽपि' का सम्बन्ध स्वयंभू के पउम चरिउ से जोड़ दिया। अस्तु,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि स्वयंभू का कवित्व उच्चकोटि का है। उसकी कल्पना, उसकी भावप्रवणता, शैली की नवीनता, सौन्दर्यवर्णन आदि उसके भाव और कला दोनों पक्ष साहित्य में अमर रहेंगे। वाल्मीकि के समान ही उसने भी राम, सीता आदि विभिन्न पात्रों में मानवीय दुर्बलताएँ भी देखी हैं।

२—रिट्ठणेमि चरिउ या हरिवंश पुराण—इसमें ११२ सन्धियाँ ८ हजार पद्यों में विभक्त हैं, जिनमें ९२ सन्धियों की रचना स्वयंभू ने की और शेष की उसके पुत्र त्रिभुवन ने। कुछ विद्वानों के अनुसार त्रिभुवन १७ सन्धियों का ही रचयिता है। उसके बाद की छह सन्धियाँ १५ वीं शती के करीब यशःकीर्ति द्वारा जोड़ी गईं। स्वयंभू ने हरिवंश पुराण की ९२ सन्धियों के अभ्यंतर १३ सन्धियों में यादवकांड, १९ सन्धियों में कुरुकांड और ६० सन्धियों में युद्धकांड लिखा है। कुछ विद्वानों के अनुसार स्वयंभू ने १०० सन्धियों तक लिखा और अन्त की १२ सन्धियाँ उसके पुत्र द्वारा जोड़ी गईं[१]। इसमें महाभारत के समान पर्व या अध्याय न होकर काण्ड और सन्धियाँ हैं।

३—तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार या महापुराण—इसके लेखक थे पुष्पदन्त (१०वीं शती ई०)। ये अभिमानमेरु, अभिमानचिह्न, काव्यरत्नाकर, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय एवं काव्वपिसल्ल भी कहलाते थे। ये कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे पर जैन होने के बाद इन्होंने अपनी राम कथा में ब्राह्मण परम्परा वाली रामकथा का विरोध किया। पौराणिक शैली के अनुसार ही शंका-समाधान-युक्त इनकी राम-कथा है। महापुराण में आदिपुराण और उत्तर पुराण दो भाग हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन ३७ सन्धियों में, रामचरित ११ सन्धियों में तथा कृष्णचरित १३ सन्धियों में वर्णित है। उत्तर पुराण में ६९-७९ सन्धियों तक रामचरित का वर्णन है।

पुष्पदन्त ने आदि पुराण में ऋषभदेव के जन्म से लेकर निर्वाण तक का और उनके दो पुत्रों भरत और बाहुबलि के चरितों का भी वर्णन किया है।

१—विशेष के लिए द्रष्टव्य—(१) हेमचन्द्र मोदी—अपभ्रंश पाठावली (१९३५ ई०) टिप्पणी पृ० २३-२५।
(२) नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग द्वि० संस्करण (१९५४ ई०) पृ० २०७।
(३) 'जैन सिद्धान्त भास्कर' (१९५३ ई०) भाग २० किरण २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाभारत के समान ही अपने महापुराण के विषय में उन्होंने भी कहा है कि इसमें सब कुछ आ गया है—नीति, छन्द, अलंकार, रस, तत्त्वनिर्णय आदि सब कुछ।

राहुल जी का कथन है कि पुष्पदन्त ने गरीबी और विरह का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। "अमीरों के विलास को छोड़कर तो वह महाकाव्य लिख ही नहीं सकता था, इसलिए वह तो जरूरी ही था; मगर सामन्तों की संक्षिप्त किन्तु अति कठोर आलोचना की है। कुछ ही शताब्दियों पहले अपनी प्रजातंत्रीय स्वतन्त्रता से वंचित मगर अब भी जब तब लड़ती रहनेवाली यौधेय की भूमि का इतना आकर्षक वर्णन और अन्त में उत्तरकुरु की धनी-गरीब रहित दास-राजा-शून्य दिव्य मानववाली भूमि की भारी तारीफ बतलाती है कि पुष्पदन्त का व्यक्तित्व किसी दूसरी ही तरह का था, जिसके लिए उस काल की परिस्थिति अनुकूल नहीं थी[१]।"

राष्ट्रकूट की राजधानी मलखेड में कृष्णराज तृतीय के महामात्य भरत के साथ वे रहते थे। उनका महापुराण अपभ्रंश साहित्य की बहुमूल्य कीर्ति है। पउम चरिउ के सम्पादक डॉ० भयाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास और पुष्पदन्त को भवभूति बताया है।

जैन अपभ्रंश में स्वयंभू लिखित पउम चरिउ और रिट्ठणेमि चरिउ तथा पुष्पदन्त लिखित महापुराण के अतिरिक्त और भी कई पुराण ग्रन्थ हैं, यथा—पासणाह चरिउ (पद्म कीर्ति १० शती), रिट्ठणेमि चरिउ (धवल १०-११वीं शती ई०), पउम सिरि चरिउ (धाहिल ११वीं १२वीं शती ई०), णेमिणाह चरिउ (हरिभद्र १२वीं शती ई०), पासणाह चरिउ (श्रीधर १३वीं शती ई०), आदि कई महत्त्वपूर्ण पुराण ग्रन्थ हैं।

चरित काव्य

जैनों के पुराण ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रबन्ध मिलते है जिन्हें चरित काव्य के भीतर रखते हैं। यद्यपि पुराण ग्रन्थों में भी चरितों का वर्णन रहता है पर उसके प्रमुख पात्र महत्तम और उसका विषय व्यापक होता है। चरित काव्यों में विशेषकर एक ही चरित का वर्णन रहता है, चाहे वह ऐतिहासिक पात्र का हो या कवि के आश्रयदाता आदि का। चरित काव्यों में णायकुमार चरिउ,

१—हिन्दी काव्य धारा (अवतरणिका पृ० ५३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जसहर चरिउ और करकंडु चरिउ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सुदंसण चरिउ (नयनंदि ११वीं शती ई०), सुकमाल चरिउ (श्रीधर), सणं-कुमार चरिउ (हरिभद्र), श्रीपाल चरिउ (रइधू १५वीं शती ई०) आदि अनेक चरित काव्य हैं, जिनमें परम्पराश्रुत प्रसिद्ध पुरुषों का चरित वर्णन किया गया है। इनमें कुछ का परिचय निम्नलिखित हैं—

१—णाय कुमार चरिउ—इसके लेखक पुष्पदन्त हैं। इसमें नौ सन्धियाँ हैं। गुणवर्म्म, शोभन, नाइल्ल आदि शिष्यों ने तथा महामात्य नन्न ने भी जब श्रुतपञ्चमी की कथा सुनने का आग्रह किया तब पुष्पदन्त ने यह चरित अङ्कित किया। पञ्चमी कथा का फल नागकुमार की कहानी के द्वारा बताया गया है। नागकुमार मगध नरेश का पुत्र था। उत्पन्न होने के कुछ ही समय बाद बच्चा कूप में गिर गया और वहाँ नाग ने उसकी सेवा की और अपनी पुत्री से उसक विवाह भी कर दिया। वह बहुत धनी और सुखी हुआ। यह सब उसके पूर्व जन्म में पञ्चमी की कथा सुनने का फल था। इस प्रकार उसमें पञ्चमी माहात्म्य अङ्कित किया गया है।

२—जसहर चरिउ—यह भी पुष्पदन्त की रचना है। यह चार सन्धियों का एक खण्ड-काव्य है। इसमें भी "जैनधर्म की महत्ता बताई गई है। एक बालक यशोधर है और उसके साथ रहनेवाली एक बालिका जो पूर्व जन्म की उसकी माँ थी। इन दोनों ने अपने पूर्व जन्म की कथा यौधेय नरेश को सुनाई। उनसे ही पता चला कि यौधेय नरेश और रानी भी किसी जन्म में ये हो चुके थे। उनसे प्रभावित होकर नरेश ने—जिसने भैरवानन्द कापालिक की आज्ञा से आकाश में उड़ने की सिद्धि के लिए इन्हें मरवाना चाहा था, छोड़ दिया और राजा-रानी दोनों ही भैरवानन्द कापालिक के साथ उन दोनों बालक-बालिकाओं के जैनगुरु के शिष्य हो गए।

करकंडु चरिउ—इसके लेखक मुनि कनकामर (११वीं शती ई०) हैं। ये द्विजवंशी और चन्द्र ऋषि गोत्र के थे, बाद में दिगम्बर जैन हो गए। इनके गुरु का नाम बुध मंगलदेव था। आसाइय नगरी में इन्होंने करकंडु चरिउ लिखा। जैन-बौद्ध परम्परा के अनुसार करकंडू नरेश प्रत्यकबुद्ध नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि बचपन में उसके हाथ में खुजली हो गई थी, अतः उसका नाम करकंडु रख दिया गया। अपनी यौवनावस्था में पृथ्वीराज के समान करकंडु ने भी बहुत लड़ाइयाँ लड़ीं, बहुत देश जीते और वहाँ की कुमारियों से विवाह किये। रत्नसेन के समान सिंहल राजकुमारी से भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्होंने विवाह किया था, उसी प्रकार के समुद्री कष्ट और बाद में पर्याप्त वैभव भी प्राप्त किये थे।

कथा काव्य

पुराण और चरित काव्यों के अतिरिक्त जैन अपभ्रंश साहित्य में कथात्मक-प्रबन्ध भी मिलते हैं। इन कथाओं के माध्यम से कवियों ने व्रत, उपवास आदि जैनधर्म सम्बन्धी आचरणों की शिक्षा दी है। लोक रुचि को ध्यान में रखकर पंचतंत्र, कथासरित्सागर एवं बौद्ध जातक कथाओं की भाँति जन्मान्तर की कहानी कहकर, कहानी के भीतर कहानी रखकर अनेक वक्ता-श्रोता युक्त सैकड़ों कथाओं से समन्वित कर बृहत्कथाएँ जैनों ने भी लिखी हैं। सम्भवतः यह भी बहुत पुरानी लोक प्रवृत्ति थी, जिसे अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए जैनों ने भी ग्रहण किया। इनमें 'भविसयत्त कहा' एक प्रमुख कथा काव्य है।

भविसयत्त कहा—इसके लेखक धनपाल (१० वीं शती ई०) थे। इनके पिता महेश्वर और माता धनश्री थीं। जर्मन विद्वान् डॉ० हारमन याकोबी और भारतीय विद्वान् चमनलाल डाह्या भाई दलाल एवं पांडुरंग गुणे के परिश्रम के फलस्वरूप धनपाल का अद्भुत ललित ग्रन्थ हमें देखने को मिलता है। आचार्य द्विवेदी ने बताया है कि भविसयत्त कहा को देख कर याकोबी प्रसन्नता से 'फड़क उठा था' क्योंकि इससे पहले अपभ्रंश ग्रन्थों का अभाव ही समझा जाता था।

भविसयत्त कहा को 'सुयपञ्चमी कहा' भी कहा जाता है। यह २२ संधियों का कथाकाव्य है। इसमें भविष्यदत्त नामक एक वणिक्पुत्र की कथा है जो अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त द्वारा विदेश में परेशान, पीड़ित किया जाता है, फिर भी पंचमी कथा की महिमा से वह बच जाता है। वह आधे कुरु राज्य का अधिकारी तक बन जाता है। अन्त में वह अपने पूर्वजन्म की कहानी सुनकर अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर जिनधर्म स्वीकार कर लेता है।

लौकिक कथाओं पर आश्रित धनपाल का यह कथा-काव्य बहुत सरस और विभिन्न काव्य रूढ़ियों से युक्त हैं।

जैन अपभ्रंश में इस प्रकार की और बहुत सी कथाएँ लिखी गईं। यथा—श्रीधर की भविसयत्त पंचमी कहा, यशःकीर्ति की जिनरत्ति कहा और रविवउ कहा, रइधू की अणथमी कहा, पुण्यासव कहा, इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं जो लोक जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, रसात्मक हैं और हैं उपदेशावसानवाली।

इनके अतिरिक्त जैन अपभ्रंश साहित्य में रास या रासा ग्रन्थ भी हैं, जिनकी परम्परा गुजराती या राजस्थानी में अधिक चली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्धलौकिक शृंगारिक अपभ्रंश काव्य

उपर्युक्त जैन अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में जैनेतर शुद्धलौकिक शृङ्गारिक काव्य भी मिले हैं। उनमें संदेशरासक का नाम मुख्यरूप से लिया जाता है। इसके लेखक का नाम अद्दहमाण है। बहुत विद्वान् अद्दहमाण का शुद्धनाम अब्दुलरहमान मानते हैं। अद्दहमाण का समय ११ वीं से १३ वीं शती ई० तक दो सौ वर्षों के बीच माना जाता है। इसके पिता का नाम मीरसेन था। यह पश्चिम देश में पूर्वप्रसिद्ध मिच्छ (म्लेच्छ ?) देश का रहने वाला था। यह जाति का आरद्द (तन्तुवाय) या जुलाहा था।

संदेश रासक - एक सन्देश-काव्य है जिसकी तुलना मेघदूत से की जा सकती है। इसकी कहानी तीन प्रक्रमों में समाप्त हुई है। कुल मिलाकर इसमें २२३ छन्द हैं। इनमें रड्डा, दोहा, डोमलिय, गाहा आदि कई प्रकार के छन्द हैं। इसमें विजयनगर की कोई प्रोषितपतिका मार्ग में जाते हुए पथिक के द्वारा अपने पति के पास सन्देश भेजती है। कथन ही अधिक है, सन्देश वर्णन कम। प्रथम प्रक्रम भूमिका में, द्वितीय प्रक्रम सन्देश कथन के आवेश में और तृतीय प्रक्रम ऋतु वर्णनों में समाप्त हुआ है। अन्त में इधर पथिक जाने लगता है और उधर से नायिका का पति आता हुआ दिखाई पड़ता है। इसकी फलश्रुति को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने इसे भी जैनपथानुगामी बताया है। फिर भी यह काव्य शुद्ध शृङ्गारिक और अत्यन्त सरस है। अपभ्रंश विज्ञ इसे परवर्त्ती अपभ्रंश या अवहट्ट भाषा की रचना मानते हैं।

सन्देश रासक का पता श्री चिमनलाल डाह्या भाई दलाल ने पाटण के जैन ग्रन्थ भंडार से लगाया। बाद में मुनि जिन विजय जी, राहुल जी एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के प्रयत्न से इसका पर्याप्त प्रचार हुआ।

प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त जैनों द्वारा लिखित पश्चिमी अपभ्रंश में मुक्तक-काव्य भी मिलते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश में लिखित मुक्तक भी दो प्रकार के हैं, प्रथम जैन सिद्धों या मुनियों द्वारा लिखित रहस्यात्मक और आचार विचार सम्बन्धी; धार्मिक या साम्प्रदायिक और द्वितीय विशुद्ध लौकिक शृङ्गारिक। प्रथम प्रकार के अर्थात् रहस्यात्मक या साम्प्रदायिकतानुमोदित जैनसिद्ध कवियों की निम्नलिखित मुख्य रचनाएँ हैं,—

परमाप्प पयास, योगसार, (जोइंदु १० वीं शती ई०) पाहुड़ दोहा (मुनिरामसिंह ११ वीं शती ई०) तथा बहुत प्रसिद्ध कुछ मुक्तक रचनाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, देवसेन का सावयधम्म दोहा, मुनि हेमचंद्र का दोहापाहुड़, आनन्द का आनन्दानन्द स्तोत्र, जिनदत्त सूरि का कालस्वरूपकुलक आदि अनेक मुक्तक रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न संग्रह ग्रन्थों में—प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश, सरस्वती कण्ठाभरण आदि में भी अपभ्रंश मुक्तक प्राप्त होते हैं।

संस्कृत के कुछ लक्षण ग्रन्थों में एवं प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों में भी ऐसे मुक्तक मिलते हैं जिन्हें धार्मिक या साम्प्रदायिक न कह कर लौकिक या विशुद्ध शृङ्गारिक कहा जाता है। हेमचंद्र के व्याकरणोद्धृत दोहों में अधिकतर ऐसे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी अपभ्रंश में जैनों के पुराण, चरित, कथा, रास या रास-रूप में प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक-काव्य के अनेक-विध उदाहरण हैं। पश्चिमी अपभ्रंश में हम देखते हैं कि जैन अपभ्रंश के अतिरिक्त विशुद्ध लौकिक शृङ्गारिक काव्य भी प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में मिलते हैं। सरह और कण्ह जैसे बौद्धसिद्धों के दोहों को भी कई विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश की ही रचना मानते हैं।

पूर्वी अपभ्रंश

पूर्वी अपभ्रंश में अधिकतर मुक्तक रचनाएँ मिलती हैं किन्तु प्रबंधात्मक कृतियों का अभाव नहीं, भले ही जैनों के पुराणों या चरितों के समान बृहद् ग्रन्थ नहीं, पर छोटे-छोटे प्रबन्ध तो मिल ही जाते हैं। भावना की दृष्टि से कुछ बौद्ध सम्प्रदायानुप्राणित और कुछ विशुद्ध साहित्यिक दोनों प्रकार की रचनाएँ पूर्वी अपभ्रंश मे प्राप्त होती हैं।

विशुद्ध लौकिक प्रबन्ध काव्यों में विद्यापति (१४ वीं शती ई०) रचित कीर्तिलता और कीर्तिपताका की चर्चा की जाती है। कीर्तिलता पर पर्याप्त विचार हुआ है। यह भी परवर्त्ती अपभ्रंश या अवहट्ट की रचना मानी जाती है। कुछ लोग इसकी भाषा को 'देसिल वयन' भी कहते हैं। किन्तु आचार्य द्विवेदी 'देसिल वयन के समान' इसे अवहट्ट भाषा की रचना मानते हैं। इसकी कथा चार पल्लवों में विभक्त है। इसका महत्त्व इसलिए अधिक माना जाता है कि यह विद्यापति की प्रथम रचना है, जिसे उन्होंने अपनी चढ़ती जवानी में लिखा। भृंग और भृंगी के संवाद से इसकी कथा प्रारंभ होती है। इसमें जगत् प्रसिद्ध ओइनी वंश में उत्पन्न गणेश्वर के पुत्र वीरसिंह के छोटे भाई कीर्तिसिंह का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरित वर्णन है। तिरहुत वासी असलान नामक नवाब को कीर्तिसिंह के पिता ने परास्त किया था। बाद में असलान ने धोखे से गणेश्वर को बुलाकर उसका वध कर दिया और राजा का राज्य ले लिया किन्तु उसे पश्चात्ताप भी हुआ। राजा का राज्य उसके पुत्रों को लौटाना चाहा पर कीर्तिसिंह इसमें अपनी प्रतिष्ठा नहीं समझते थे। उन्होंने जौनपुर में जाकर इब्राहिम शाह की, सहायता माँगी। इब्राहिम की सेना की सहायता से कीर्तिसिंह और वीरसिंह दोनों भाइयों ने असलान को पराजित किया और अपना राज्य वापस लिया।

इस आख्यायिका में कीर्तिसिंह और वीरसिंह की जौनपुर यात्रा, जौनपुर के के बाजार का वर्णन, वेश्याओं का वर्णन और सेनाप्रयाण, युद्धवर्णन आदि सुन्दर वर्णन मिलते हैं। इसमें दोहा, रड्डा आदि अनेक प्रकार के छंद हैं। कवि को अपनी भाषा पर गर्व है।

ज्योतिरीश्वर ठक्कुर का वर्णरत्नाकर कवियों के लिए एक वर्णन-कोश है। दामोदर पंडित का 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' भाषा जानने के लिए महत्त्व पूर्ण है। साहित्यिक दृष्टि से इसका उतना मूल्य नहीं। 'प्राकृत पैंगलम्' में भी कुछ छंद हैं जिन्हें पूर्वी अपभ्रंश का कहा जाता है। विद्यापति की कीर्तिपताका की भाषा भी पूर्वी अपभ्रंश है। उसमें मैथिली के नमूने 'वर्णरत्नाकर' के समान ही प्राप्त होते हैं। कीर्तिलता और कीर्तिपताका साम्प्रदायिक न होकर लौकिक हैं–शुद्ध साहित्यिक, अपने आश्रय दाताओं से सम्बन्धित। विद्यापति की पदावली की भाषा पूर्वी अपभ्रंश न होकर 'देसी' या 'व्रजरंजिता' भाषा है। अब 'व्रजबुलि' नाम से भी उसका उल्लेख होता है।

बौद्धसिद्ध कवियों के चर्यापद और गीतिपद तो निःसंदिग्ध रूप में पूर्वी अपभ्रंश के उदाहरण माने जाते हैं। अनेक विद्वान् बौद्धसिद्धों के दोहों की भाषा को पूर्वी अपभ्रंश ही मानते हैं और उन्हें भोजपुरी, मगही, मैथिली तथा बंगला की पूर्ववर्ती कड़ी या उनका प्राचीन रूप मानते हैं। पूर्वी अपभ्रंश की प्रमुख मुक्तक रचनाएँ "बौद्ध गान ओ दोहा' में संगृहीत हैं। सर्वप्रथम म० महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उन पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने उसमें संगृहीत रचनाओं को बंगला सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनके पश्चात् म० पंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत जाकर सिद्धों की रचनाओं पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। इससे प्रभावित होकर मिश्रबन्धुओं और आचार्य शुक्ल ने भी हिंदी साहित्य के इतिहास में उनको स्थान दिया। राहुल जी ने पुरातत्त्व निबन्धावली में चौरासी बौद्ध सिद्धों पर विचार किया और 'हिंदी काव्य धारा'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी उनमें से कइयों को स्थान दिया। सरह जिसे वे हिंदी का प्रथम कवि मानते हैं— उसका दोहा कोश संपादित करके राहुल जी ने सरह पर पर्याप्त विचार किया। बाद में आचार्य द्विवेदी आदि अनेक विद्वानों ने भी इनकी महत्ता पर विचार किया।

परवर्त्ती भक्ति कालीन प्रवृत्तियों को पहचानने के लिए एवं भारतीय चिन्ता धारा के स्वाभाविक विकास को समझने के लिए उनका मूल्यांकन किया गया। भाषा की दृष्टि से भी इन कृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि विशुद्ध साहित्यि-कता का उनमें अभाव है पर मानव हृदय के शुद्धीकरण में उनका उचित योग है। डॉ० शहीदुल्ला एवं बागची ने भी सिद्धों की रचनाओं का संग्रह एवं उन पर विचार किया। धर्मवीर भारती ने अपने सिद्ध साहित्य में पूर्वी अपभ्रंश की सामग्री पर विशेष रूप से विचार किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश का विशाल साहित्य है। यद्यपि 'सनत्कु-मार चरित' की भूमिका में याकोबी ने अपभ्रंश भाषा के पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी चार भेद किये हैं और श्री तगारे ने उत्तरी भेद का खंडन कर तीन ही भेदों को स्वीकार किया है पर इनमें भी दक्षिणी और पश्चिमी में स्पष्ट अन्तर नहीं। अतः भविसयत्त कहा जिसे दक्षिणी अपभ्रंश का उदाहरण माना जाता था उसे भी पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्य समझा गया। और इस प्रकार आधुनिक कई विद्वानों ने पश्चिमी और पूर्वी दो भागों में रखकर ही संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य-सामग्री पर विचार करना उचित समझा। इन भागों में जैन, बौद्ध तथा विशुद्ध लौकिक साहित्य की दृष्टि से तीन प्रकार के अपभ्रंश साहित्य की चर्चा की गई है। इसमें पुराण, चरित, कथा, रासा, आदि प्रबंधात्मक साहित्य पर तथा दोहा चर्यापद, गीति आदि मुक्तक साहित्य पर एवं रूढ़ि युक्त, रूढिविरोधी भावनाओं से युक्त अपभ्रंश साहित्य पर विचार किया गया है। तत्कालीन जनता की भावनाओं, काव्यविधाओं और उनके विकास को समझने के लिए इसका ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

शालिग्राम उपाध्याय
म० वि० महाविद्यालय
बक्सर (बिहार)

गणतंत्र दिवस
२६।१।६६

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ ॐ ॥

अपभ्रंश-व्याकरण

स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे ॥४॥३२६॥

अपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्रायः स्वरा भवन्ति।

(अपभ्रंश भाषा में स्वरों के स्थान पर प्रायः स्वर ही रहते हैं।) जैसे (सं० कच्चित्) अप० कच्चु, काच्च। (सं० वेणी, वीणा) अप० वेण, वीण। (सं० बाहु) अप० वाह, वाहा, बाहु॥ (सं० पृष्ठ) अप० पट्ठि, पिट्ठि, पुट्ठि॥ (सं० तृण) अप० तणु, तिणु, तृणु। (सं० सुकृतम्) अप० सुकिदु, सुकिओ, सुकृदु॥ (सं० क्लिन्नः) अप० किन्नओ, किलिन्नओ॥ (सं० लेखा) अप० लिह, लीह, लेह॥ (सं० गौरी) अप० गउरि, गोरि॥ प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनी-वच्च कार्यं भवति॥ (सूत्र में 'प्रायः' लिखने का अभिप्राय यह है कि किसी शब्द का अपभ्रंश रूप जहाँ कहा जायगा, वहाँ भी प्राकृत अर्थात् महाराष्ट्री प्राकृत, और शौरसेनी प्राकृत के समान कार्य होगा।)

स्यादौ दीर्घह्रस्वौ ॥३३०॥

अपभ्रंशे नाम्नोन्त्यस्वरस्य दीर्घह्रस्वौ स्यादौ प्रायो भवतः।

(अपभ्रंश भाषा में सि=सु आदि विभक्तियाँ परे रहें तो संज्ञा शब्दों के अन्त्यस्वर का प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाया करता है।) जैसे, प्रथमा एकवचन सि (सं० सु) परे रहने पर—

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्णरेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥१॥
[विटः श्यामलः धन्या चम्पकवर्णा।
इव सुवर्णरेखा कषपट्टके दत्ता ॥१॥]

(दूल्हा (दुर्लभ) श्यामल है और धन्या=प्रिया चंपकवर्णा की है (वे दोनों ऐसे लगते हैं) मानो कसौटी पर सुवर्ण की रेखा खिंची हो ॥१॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ पर 'ढोल्ल' और 'सामल' ह्रस्वान्त थे जो दीर्घान्त प्रयुक्त हैं। 'धण, और 'सुवण्णरेह' में अन्त्य-स्वर दीर्घ से ह्रस्व हो गए हैं; धन्या—धण्णा, सुवर्ण रेखा—'सुवण्णरेहा' के ह्रस्वांत प्रयोग हैं।

आमन्त्र्ये—(आमन्त्रण अर्थात् जहाँ संबोधन रहे वहाँ भी दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ होता है।) जैसे—

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा करु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥२॥
[विट मया त्वं वारितः मा कुरु दीर्घं मानम्।
निद्रया गमिष्यति रात्रिः शीघ्रं (दडवड) भवति विभातम् ॥२॥]

(हे दुल्लह ! मैंने तुझे बरजा कि दीर्घ मान मत कर, अन्यथा नींद ही नींद में (से) रात बीत जायगी और झटपट विहान हो जायगा।) यहाँ संबोधन 'ढोल्ला' में ह्रस्व का दीर्घ हो गया है। दडवड (दे०) शीघ्र, झटपट-हिंदी।

स्त्रियाम्—(स्त्री-लिङ्ग में भी ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व होता है।) जैसे—

बिट्टीए मइ भणिय तुहुँ मा करु वङ्की दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥३॥
[पुत्रि (बिट्टीए) मया भणिता त्वं मा कुरु वक्रां दृष्टिम्।
पुत्रि सकर्णा भल्लिर्यथा मारयति हृदये प्रविष्टा ॥३॥]

(हे बिटिया, मैंने तुझसे कहा था कि बांकी दृष्टि मत कर। हे बिटिया, ऐसी दृष्टि नोकदार बरछी के समान हृदय में पैठकर मारती है।) यहाँ पर 'बिट्टि' को 'बिट्टीए' दीर्घ हो गया है। 'पुत्ति' में ह्रस्व स्वर हो गया।

जसि—(जस् विभक्ति अर्थात् प्रथमा के बहुवचन में भी उपर्युक्त नियम लगता है।) यथा—

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग॥ ४ ॥

[एते ते अश्वाः (घोडा) एषा स्थली एते ते निशिताः खड्गाः।
अत्र मनुष्यत्वं (पौरुषं) ज्ञायते यः नापि वल्गां वालयति ॥ ४ ॥]

(ये वे घोड़े हैं, यह वह युद्धस्थली है, ये वे तीक्ष्ण तलवारें हैं, यहीं पर उसकी मुणीसिम = पौरुष की परीक्षा होगी जो घोड़े की बाग नहीं मोड़ेगा।) यहाँ पर 'एते ते' के लिए 'एइ ति' तथा 'खड्गाः' के लिए 'खग्ग' ह्रस्वांत रूप प्रयुक्त हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं विभक्त्यन्तरेष्वप्युदाहार्यम् ॥ (इसी प्रकार अन्य विभक्तियों के परे रहने पर भी ह्रस्व के दीर्घ और दीर्घ के ह्रस्व के उदाहरण दें।)

स्यमोरस्योत् ॥ ३३१ ॥

अपभ्रंशे अकारस्य स्यमोः परयोः उकारो भवति। (अपभ्रंश भाषा में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन परे रहते अकार का उकार हो जाता है।)—

यथा दहमुहु भुवणभयंकरु भुवणभयंकरु तोसिअ-संकरु
णिग्गउ रहवरि चडिअउ
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि
णावइ दइवें घडिअउ ॥

[दशमुखः भुवनभयङ्करः तोषितशङ्करः
निर्गतः रथवरे (रथोपरि) आरूढः।
चतुर्मुखं षण्मुखं ध्यात्वा
एकस्मिन् लगित्वा इव दैवेन घटितः ॥]

(भगवान शंकर को संतुष्टकर रथ पर आरूढ़ होकर निकला हुआ भुवन-भयङ्कर दशमुख (रावण) ऐसा लगा रहा था मानो देवों ने चतुर्मुख = ब्रह्मा और षण्मुख = कार्तिकेय का ध्यान कर उन दोनों के योग से उसे बनाया है।)

यहाँ पर प्रथमा के एकवचन में दहमुहु, भुवण-भयंकरु, तोसिय-संकरु, आदि शब्दों में अकार का उकार हो गया है। इसी प्रकार द्वितीया के एकवचन में भी चउमुहु, छंमुहु आदि में अम् परे रहते अकार का उकार हो गया है।

सौ पुंस्योद्वा ॥ ३३२ ॥

अपभ्रंशे पुंलिङ्गे वर्तमानस्य नाम्नोकारस्य सौ परे ओकारो वा भवति। (अपभ्रंश भाषा में पुंलिग में संज्ञा के अंतिम अकार का प्रथमा के एक-वचन में विकल्प से ओकार हो जाता है।) यथा—

अगलिय-नेह-निवट्टाहँ जोअण-लक्खु वि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ ॥ १ ॥

[अगलित-स्नेहनिर्वृत्तानां योजनलक्षमपि जायताम्।
वर्षशतेनापि यः मिलति सखि सौख्यानां स स्थानम् ॥ १ ॥]

(जिनका स्नेह निकला नहीं है, ऐसे स्नेह से परिपूर्ण व्यक्ति लाख योजन भी चले जांय पर हे सखि, सैकड़ों वर्षों पर भी जो मिलते हैं वही सुख का स्थान है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ 'जो' और 'सो' में अकार का ओकार हो गया है।

पुंसीति किम्। (सूत्र में पुंलिंग शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है? उत्तर—इसलिए कि अगले उदाहरण में जहाँ नपुंसकादि हैं, वहाँ के अकार का ओकार न हो, यथा—

अङ्गहिँ अङ्गु न मिलिउ हलि अहरेँ अहरु न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहेँ मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥ २॥
[अङ्गैः अङ्गं न मिलितं सखि (हलि) अधरेण अधरः न प्राप्तः।
प्रियस्य पश्यन्त्याः मुखकमलं एवं सुरतं समाप्तम्॥ २॥]

(हे सखि, (प्रियतम के) अङ्गों से न तो (मेरा) अंग मिला, न तो उनके अधर से मेरा अधर मिला, प्रिय के मुखकमल को देखते-देखते ही सुरत समाप्त हो गया।)

यदि सूत्र में पुंलिंग के लिए ही नियम नहीं बनाया जाता तो उपर्युक्त दोहे में 'अङ्गु' और 'मुह-कमलु' नपुंसक में भी ओकार हो जाता तब 'अङ्गो' और 'मुहकमलो' रूप होने लगते।

एट्टि॥ ३३३॥

अपभ्रंशे अकारस्य टायामेकारो भवति। (अपभ्रंश भाषा में तृतीया एकवचन में (टा विभक्ति परे रहते) अंतिम अकार का 'ए' होता है।) यथा—

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥ १॥
[ये मम दत्ताः दिवसाः दयितेन प्रवसता।
तान् गणन्त्याः (मम) अङ्गुल्यः जर्जरिता नखेन॥ १॥]

(प्रवास करते समय प्रियतम ने जो दिन (मुझे अवधि रूप में) दिए थे, उन्हें गिनते हुए नखों से मेरी अंगुलियाँ जर्जरित हो गई हैं।) यहाँ पर 'दइएँ' में 'अ' का 'ए' हो गया है।

ङिनेच्च॥ ३३४॥

अपभ्रंशे अकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवतः। (अपभ्रंश में सप्तमी के एकवचन में अंतिम अकार को इकार और एकार होते हैं।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं॥ १॥
[सागरः उपरि तृणानि धरति तले क्षिपति (घल्लइ) रत्नानि।
स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति संमानयति खलान्॥ १॥]

(सागर तृणों को तो अपने ऊपर धारण करता है और रत्नों को भीतर तल में डालता है, स्वामी सुभृत्य को तो छोड़ता है और खलों का सम्मान करता है।)

यहाँ पर 'तलि' में सप्तमी के एकवचन में अकार का इकार हो गया है। 'तलि' के स्थान पर 'तले' भी होता है जो अकार को एकार का उदाहरण है।

भिस्येद्वा॥ ३३५॥

अपभ्रंशे अकारस्य भिसि परे एकारो वा भवति। (अपभ्रंश में तृतीया के बहुवचन की विभक्ति परे रहे तो अकार को विकल्प से एकार होता है।) यथा—

गुणेँहिँ न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेँहिँ घेप्पन्ति॥ १॥
[गुणैः न संपत् कीर्तिः परं (जनाः) फलानि लिखितानि भुञ्जन्ति।
केसरी कपर्दिकामपि (बोड्डिअ) न लभते गजाः लक्षैः गृह्यन्ते॥१॥]

(गुणों के द्वारा सम्पत्ति नहीं, कीर्ति मिलती है, किन्तु मानव, जो (भाग्य में) लिखा रहता है उसी को प्राप्त करते हैं (उपभोग करते हैं)। सिंह एक कौड़ी भी नहीं प्राप्त करता अर्थात् एक कौड़ी का भी नहीं होता और हाथी लाखों रुपयों से खरीदे जाते हैं।)

यहाँ पर 'गुणेँहिं' और 'लक्खेँहिं' में विकल्प से एकार हुआ है। एकार के अभाव में अकार ही रह जाता है। 'गुणहिं' अभाव का उदाहरण है।

ङसेर्हेहू॥ ३३६॥

अस्येति पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते। अपभ्रंशे अकारान्त परस्य ङसे हें हु इत्यादेशौ भवतः॥ (अपभ्रंश में अकार से परे पञ्चमी के एकवचन की विभक्ति को हे और हु आदेश होते हैं।) यथा—

वच्छहेँ गृण्हइ फलइँ जणु कडु-पल्लव वज्जेइ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छङ्गि धरेइ॥ १॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[वृक्षात् गृह्णाति फलानि जनः कटुपल्लवान् वर्जयति ।
तथापि महाद्रुमः सुजन इव तान् उत्सङ्गे धरति ॥ १ ॥]

(मानव, वृक्ष से फलों को ग्रहण करता है और कटुपल्लवों को छोड़ देता है; तो भी महान् द्रुम सुजन के समान उन्हें (पल्लवों को) अपने उत्संग (गोद) में धारण करता है ।)

यहाँ पञ्चमी के एकवचन की विभक्ति को 'वच्छहे' में 'हे' हो गया है। जहाँ 'हु' होगा वहाँ 'वच्छहु' रूप बनेगा।

वच्छहु गृण्हइ—(वृक्ष से ग्रहण करता है ।)

भ्यसो हुं ॥ ३३७ ॥

अपभ्रंशे अकारात्परस्य भ्यसः पञ्चमीबहुवचनस्य हुं इत्यादेशो भवति । (अपभ्रंश में अकार से परे पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति को 'हुं' आदेश होता है ।) यथा—

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिहं गिरि-सिङ्गहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥ १ ॥
[दूरोड्डाणेन पतित. खलः आत्मानं जनं (च) मारयति ।
यथा गिरिशृङ्गेभ्यः पतिता शिला अन्यदपि चूर्णीकरोति ॥ १ ॥]

(ऊँचा जाकर गिरा हुआ खल अपने साथ ही औरों (अपने जनोंको) भी मारता है। जैसे गिरि शिखरों से गिरी हुई शिला अपने साथ- साथ अन्य को भी चूर-चूर कर देती है ।) यहाँ पर 'गिरि सिङ्गहुं' में भ्यस् के स्थान पर 'हुं' आदेश हुआ है ।

ङसः सु-हो-स्सवः ॥ ३३८ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्य ङसः स्थाने सु, हो, स्सु इति त्रय आदेशा भवन्ति । (अपभ्रंश में अकार से परे षष्ठी के एकवचन को ङस् विभक्ति के स्थान पर सु, हो और स्सु ये तीन आदेश होते हैं ।) यथा—

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥ १ ॥
[यः गुणान् गोपयति आत्मीयान् प्रकटान् करोति परस्य ।
तस्य अहं कलियुगे दुर्लभस्य बलिं करोमि सुजनस्य ॥ १ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(जो अपने गुणों को छिपाता है तथा अन्य के गुणों को प्रकट करता है ऐसे इस कलियुग में दुर्लभ सज्जन पुरुष पर मैं बलि जाता हूँ ।)

यहाँ 'परस्सु', 'तसु' और 'दुल्लहहो' षष्ठी के एकवचन के रूप हैं ।

आमो हं ॥ ३३९ ॥

अपभ्रंशे अकारात्परस्यामो हमित्यादेशो भवति । (अपभ्रंश में अकार से परे जो षष्ठी की बहुवचन-विभक्ति उसके स्थान पर 'हं' आदेश होता है ।) यथा—

तणहँ तइज्जी भङ्गि न वि तें अवड-यडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ॥

[तृणानां तृतीया भङ्गी नापि (=नैव); तानि अवटतटे वसन्ति ।
अथ जनः लगित्वा उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति ॥१॥]

(अवटतट—किनारे पर लगे हुए तृणों की तीसरी भङ्गी (दशा) नहीं होती; या तो लोग उन्हें पकड़ कर जल से पार उतर जाते हैं या उनके साथ ही डूब जाते हैं ।) एक टीकाकार का विचार है कि अन्य शूर व्यक्ति भी दो ही काम करते हैं या तो जीते हैं तो शत्रु पर विजय कर के या मर जाते हैं । ये दो ही प्रकार उनके होते हैं ।

यहाँ पर 'तणहँ' षष्ठी के बहुवचन का (आम् विभक्ति का) रूप है ।

हुं चेदुद्भ्याम् ॥ ३४० ॥

अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्यामो हुं हं चादेशौ भवतः । (अपभ्रंश में इकार उकार से परे षष्ठी-बहुवचन की आम् विभक्ति के स्थान में 'हुं' और 'हं' भी आदेश होते हैं ।) यथा—

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ सउणिहँ पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिँ खल वयणाइं ॥१॥

[देवः घटयति वने तरूणां शकुनीनां (कृते) पक्वफलानि ।
तद्वरं सौख्यं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि ॥१॥]

(दैव वन में पक्षियों के लिए वृक्षों के फलों को रचता है, (उनके उपभोग का) वह सुख अच्छा है पर कानों में खलवचन का आना अच्छा नहीं ।)

यहाँ 'तरहुँ' और 'सउणिहँ' षष्ठी-बहुवचन के रूप हैं । प्रायोधिकात् क्वचित्सुपोऽपि हुं । (सं० ३२९ सूत्र में जो 'प्रायः' ग्रहण किया गया है उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अधिकार के कारण कहीं-कहीं पर 'सुप्' सप्तमी के बहुवचन में भी 'हुं' आदेश हो जाता है।) यथा—

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउँ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥२॥
[धवलः खिद्यति (विसूरइ) स्वामिनः गुरुं भारं प्रेक्ष्य।
अहं किं न युक्तः द्वयोर्दिशोः खण्डे द्वे कृत्वा ॥२॥]

(अपने स्वामी के गुरु भार (अधिक परेशानी) को देख कर धवल (बैल) विसूरता है (खेद करता है) कि मैं ही दो खण्ड करके क्यों न दोनों ओर जोत दिया गया।)

यहाँ पर 'दुहुँ' सप्तमी के बहुवचन का रूप है। अपभ्रंश में द्विवचन नहीं होता, अतः 'सुप्' के स्थान पर 'हुं' आदेश हुआ है।

ङसि-भ्यस्ङीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥

अपभ्रंशे इदुद्भ्यां परेषां ङसि, भ्यस्, ङि इत्येतेषां यथासंख्यं हे, हुं, हि इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ ङसेर्हे।

(अपभ्रंश में इकार उकार से परे पञ्चमी के एकवचन में 'हे' बहुवचन में 'हुं' और सप्तमी के एकवचन में 'हि' का क्रम से आदेश होता है।) यथा—
पञ्चमी के एकवचन का उदाहरण—

गिरिहें सिलायलु तरुहें फलु घेप्पइ नीसावँन्नु।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रूच्चइ रन्नु ॥
[गिरेः शिलातलं तरोः फलं गृह्यते निःसामान्यम्।
गृहं मुक्त्वा मनुष्याणां तथापि न रोचते अरण्यम् ॥१॥]

(पर्वत से शिला और वृक्ष से फल निःसामान्य रूप से (बिना किसी भेद-भाव के) ग्रहण किए जाते हैं, फिर भी घर को छोड़ कर मनुष्यों को अरण्य नहीं अच्छा लगता।)

यहाँ पर 'गिरहें' और 'तरुहें' पञ्चमी के एकवचन के रूप हैं।

भ्यसो हुं। (पञ्चमी के बहुवचन में 'हुं' आदेश होता है।) यथा—

तरुहुँ वि वक्कलु फलु मुणिवि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[तरुभ्य अपि वल्कलं मुनयः अपि परिधानं अशनं लभन्ते।
स्वामिभ्यः इयत् अधिकं (अग्गलु) आदरं भृत्याः गृह्णन्ति ॥२॥]

(मुनि लोग भी तरुओं से भी परिधान और अशन रूपसे वल्कल और फल प्राप्त करले ते हैं। (परंतु) (अच्छे) स्वामियों से भृत्य (वस्त्र भोजन के साथ-साथ) आदर भी ग्रहण करता है, जो उनसे अधिक है।)

यहाँ 'तरुहुँ' और 'सामिहुं' पञ्चमी के बहुवचन के रूप हैं।

ङे हिं। (सप्तमी एकवचन विभक्ति को 'हि' का आदेश होता है।) यथा—

अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु ॥ ३ ॥
[अथ विरलप्रभावः एव कलौ धर्मः।]
(कलियुग में धर्म का प्रभाव बहुत कम हो गया है।)
यहाँ 'कलिहि' सप्तमी के एकवचन का रूप है।

आट्टो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्य टा वचनस्य णानुस्वारावादेशौ भवतः। (अपभ्रंश में तृतीया के एकवचन (टा विभक्ति) को 'ण' और अनुस्वार आदेश होते हैं।) यथा—

दइएं पवसन्तेण [३३३।१] (प्रवास करते हुए प्रिय के द्वारा) यहाँ पर 'दइएं' में टा को अनुस्वार हो गया है और 'पवसन्तेण' में 'टा' को 'ण' आदेश हो गया है।)

एँ चेदुतः ॥ ३४३ ॥

अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्य टा वचनस्य 'एँ' चकारात् णानुस्वारौ च भवन्ति। एँ। (अपभ्रंश में इकार तथा उकार से परे जो तृतोया एकवचन टा विभक्ति उसको 'एँ' आदेश होता है। सूत्र में 'च' ग्रहण के सामर्थ्य से 'ण' और अनुस्वार भी वहाँ होते हैं।) यथा, 'एँ' का उदाहरण—

अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥ १ ॥
[अग्निना उष्णं भवति जगत् वातेन शीतलं तथा।
यः पुनः अग्निना शीतलः तस्य उष्णत्वं कथम् ॥ १ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आग से संसार उष्ण होता है और उसी प्रकार वायु से शीतल होता है, परन्तु जो आग से शीतल होता है उसे उष्णता कैसे आ सकती है ? अर्थात् वह गर्म नहीं हो सकता ।)

यहाँ 'अग्गिएँ' और 'वाएँ' क्रमशः इकार और उकार से परे तृतीया के एकवचन के रूप हैं । यहाँ 'एँ' हो गया है । णानुस्वारौ । (आगे 'ण' और अनुस्वार के उदाहरण हैं)—

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥ २ ॥
[विप्रियकारकः यद्यपि प्रियः तदपि तं आनय अद्य ।
अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं तदपि तेन अग्निना कार्यम् । २ ॥]

[प्रिय यद्यपि अप्रिय कारक है फिर भी आज उसे ला, (क्योंकि) आग से घर जल जाता है फिर भी उसे काम में लाया जाता है ।]

जहाँ पर इकार से परे 'अग्गिण' में 'ण' और 'अग्गिं' में अनुस्वार, तृतीया के एक वचन में हो गए हैं । एवमुकारादप्युदाहार्याः । (इसी प्रकार उकार से भी परे तृतीया एकवचन में 'ण' और अनुस्वार का उदाहरण ढूँढ़ना चाहिए ।)

स्यम्-जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

अपभ्रंशे सि, अम्, जस्, शस्, इत्येतेषां लोपो भवति । (अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन तथा बहुवचन की विभक्ति का प्रायः लोप हो जाता है ।) यथा—

एइ ति घोडा एह थलि । [३३०।४] अत्र स्यम् जसां लोपः । [एते ते अश्वाः एषा स्थली] इत्यादि [३३०।४] (यहाँ पर 'एइ' 'घोडा' में जस् का (प्रथमा की बहुवचन-विभक्ति का) और एह 'थलि' में प्रथमा की एकवचन-विभक्ति 'सि' का लोप है ।) उसी दोहे में 'वग्ग' अम् विभक्ति के लोप का उदाहरण है ।

आगे 'सि' 'अम्' और 'शस्' अर्थात् प्रथमा के एकवचन तथा द्वितीया के एकवचन और बहुवचन की विभक्ति के लोप के उदाहरण दिये जाते हैं—

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[यथा यथा वक्रिमाणं लोचनयोः नितरां श्यामला शिक्षते।
तथा तथा मन्मथः निजकशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥१॥]

(सांवरिया जैसे-जैसे अपने नयनों में बांकापन लाना सीखती है उसी प्रकार कामदेव अपने वाणों को खुरदुरे पत्थर पर तीक्ष्ण करता है।) अत्र स्यम्शसां लोपः। (यहाँ 'सि' 'अम्' और 'शस्' विभक्तियों का लोप है।)

यहाँ 'सामलि' प्रथमा एकवचन 'सि' विभक्ति के लोप का, 'वंकिम' द्वितीया के 'अम्' विभक्ति तथा 'निअयसर' द्वितीया के बहुवचन 'शस्' के लोप के उदाहरण हैं।

षष्ठ्याः ॥३४५॥

अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्याः प्रायो लुग् भवति। (अपभ्रंश में षष्ठी विभक्ति का प्रायः लोप हो जाता है।) यथा—

संगर-सएँहिँ जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय-कुम्भइं दारन्तु ॥१॥
[संगरशतेषु यो वर्ण्यते पश्य अस्माकं कान्तम्।
अतिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ॥१॥]

(सैकड़ों युद्धों में जिसकी प्रशंसा को जाती है, ऐसे उस अत्यंत मत्त तथा अंकुश की कुछ भी परवा नहीं करने वाले गजों के कुम्भस्थलों को बिदारने वाले मेरे कंत को तो देखो।)

यहाँ पर 'गय' में षष्ठी की बहुवचन-विभक्ति का लोप हो गया है।

पृथग्योगो लक्ष्यानुसारार्थः। (सूत्र संख्या ३४४ से ३४५ को पृथक् इसलिए रखा गया है कि लक्ष्य के अनुसार अर्थ किया जायगा।)

आमन्त्र्ये जसो होः ॥ ३४६ ॥

अपभ्रंशे आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसो हो इत्यादेशो भवति। लोपापवादः। (अपभ्रंश में संबोधन अर्थ में वर्तमान जो संज्ञा शब्द उससे परे जस् (प्रथमा के बहुवचन की विभक्ति) को 'हो' आदेश होता है। यह आदेश लोप का अपवाद है।)

उदाहरण—तरुणहो तरुणिहो मुणिउ मइँ करहु म अप्पहों घाउ।
[हे तरुणाः, तरुण्यः, (च) ज्ञातं मया आत्मनः घातं मा कुरुत](हे तरुणो और हे तरुणियो, मैंने समझ लिया, अपनी हत्या मत करो।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ पर 'तरुणहो' और 'तरुणिहो' में संबोधन प्रथमा बहुवचन जस् विभक्ति को 'हो' आदेश हो गया है।

भिस्सुपोर्हिं ॥३४७॥

अपभ्रंशे भिस्सुपोः स्थाने हिं इत्यादेशो भवति। (अपभ्रंश में भिस् और सुप् अर्थात् तृतीया और सप्तमी के बहुवचन की विभक्ति के स्थान पर 'हिं' आदेश होता है।) यथा—

गुणहिँ न संपइ कित्ति पर [३३५।१] (गुणों से सम्पत्ति नहीं कीर्ति होती है।) यहाँ 'गुणहिँ' तृतीया बहुवचन भिस् को 'हिँ' आदेश है। सुप्। (सुप् के स्थान में 'हिँ' आदेश का उदाहरण)—

भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेँहिँ तिहिँ वि पयट्टइ ॥ १ ॥
[भागीरथी यथा भारते त्रिषु अपि मार्गेषु प्रवर्तते।]

(जिस प्रकार से भागीरथी भारत के तीनों मार्गों में प्रवर्तित है।) यहाँ पर 'मग्गेँहिं' और 'तिहिं' सप्तमी बहुवचन 'सुप्' के स्थान पर 'हिं' आदेश के उदाहरण हैं।

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥३४८॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसः शसश्च प्रत्येकमुदोतावादेशौ भवतः। लोपापवादौ। (अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञाशब्द से परे प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन की विभक्ति को 'उ' और 'ओ' आदेश होते हैं। ये आदेश लोप के अपवाद स्वरूप हैं।) उदाहरण, जसः—प्रथमा बहुवचन का—

अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥ [३३३।१]

द्वितीया के बहुवचन में—शस् विभक्ति का उदाहरण—

सुन्दर सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण ॥ १ ॥
[सुन्दरसर्वाङ्गीः विलासिनीः प्रेक्षमाणानाम्।] (सर्वाङ्ग सुन्दरी विलासिनियों को देखने वालों का।)

यहाँ 'सुन्दर सव्वङ्गाउ' और 'विलासिणीओं' ये दोनों रूप द्वितोया के बहुवचन के हैं। यहाँ 'उ' और 'ओ' आदेश हैं।

वचनभेदान्न यथासंख्यम् ॥ (वचनभेद से यहाँ क्रमशः 'उ' और 'ओ' आदेश नहीं होंगे।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टए ॥ ३४६ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्याष्टायाः स्थाने ए इत्यादेशो भवति। (अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थिति संज्ञा शब्दों से परे 'टा' अर्थात् तृतीया एकवचन के स्थान पर 'ए' आदेश होता है।) यथा—

निअ-मुह-करहिँ वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ।
ससि-मण्डल-पुणु चन्दिमएँ काइँ न दूरे देक्खइ॥ १॥
[निजमुखकरैः अपि मुग्धा करं अन्धकारे प्रतिपेक्षते।
शशिमण्डलचन्द्रिकया पुनः किं न दूरे पश्यति॥ १॥]

(यह मुग्धा अपने मुखचन्द्र की किरणों से अन्धकार में अपना हाथ देख लेती है तो फिर चन्द्रमण्डल की चाँदनी से दूर तक के पदार्थों को क्यों न देख लेगी?)

यहाँ 'चन्दिमएँ' तृतीया एकवचन का रूप है 'टा' के स्थान में 'ए' आदेश हो गया है। इसी तरह से—

जहिँ मरगय-कन्तिएँ संवलिअं॥ २॥
[यत्र मरकतकान्त्या संवलितम्॥ २॥] (जहाँ मरकत मणि की कान्ति से संवलित है।)

यहाँ पर मरगय कन्तिएँ तृतीया एकवचन 'टा' के स्थान पर 'ए' आदेश का उदाहरण है।

ङस्-ङस्योर्हे ॥ ३५० ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परयोर्ङस् ङसि इत्येतयोर्हे इत्यादेशो भवति। ङसः। (अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा शब्दों से परे 'ङस्' और 'ङसि' अर्थात् पञ्चमी और षष्ठी के एक वचन में 'हे' आदेश होता है।) षष्ठी के एक वचन का उदाहरण—

तुच्छ-मज्झहे तुच्छ-जम्पिरहे।
तुच्छच्छ-रोमावलिहे तुच्छ-राय तुच्छयर-हासहे।
पिय-वयणु अलहन्तिअहे तुच्छकाय-वम्मह-निवासहे।
अन्नु जु तुच्छउँ तहेँ धणहे तं अक्खणह न जाइ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ॥ १॥

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[तुच्छमध्यायाः तुच्छजल्पनशीलायाः ।
तुच्छाच्छ रोमावल्याः तुच्छरागायाः तुच्छतरहासायाः ।
प्रियवचनमलभमानायाः तुच्छकायमन्मथनिवासायाः ।
अन्यद् यत्तुच्छं तस्याः धन्यायाः तदाख्यातुं न याति ।
आश्चर्यं स्तनान्तरं मुग्धायाः येन मनो वर्त्मनि न माति ॥१॥]

(धन्या का सब कुछ सूक्ष्म है । उसका मध्यभाग सूक्ष्म है । (कटि पतली है) उसकी वाणी तुच्छ (मधुर, धीरे-धीरे बोली जाने वाली) है । सुन्दर और तुच्छ (पतली) रोमावली है । सूक्ष्म रागवाली है । उसका हास्य भी सुमधुर और धीरे-धीरे होता है । प्रियतम का कोई समाचार न पाकर पतली शरीर वाली है । उसके शरीर में कामदेव निवास करता है । उस धन्या का अन्य भी जो कुछ तुच्छ (सूक्ष्म) है, उसका वर्णन नहीं किया जाता । आश्चर्य है कि उस मुग्धा के स्तनों के बीच का भाग इतना सूक्ष्म है कि उस मार्ग पर मन भी नहीं चल पाता, वहाँ मन भी नहीं पहुँचता है ।

यहाँ सभी 'हे' अन्तवाले रूप षष्ठी के एकवचन के हैं । ङसेः । (पञ्चमी के एकवचन में 'हे' आदेश का उदाहरण,—

फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराई कवण घृण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥२॥
[स्फोटयतः यौ हृदयं आत्मीयं तयोः परकीया (परविषये) का घृणा ।
रक्षत लोकाः आत्मानं बालायाः, जातौ विषमौ स्तनौ ॥]

(जो अपने हृदय को फोड़ते हैं उन्हें अन्य के विषय में क्या दया ? हे लोगो, उस बाला से अपनी रक्षा करो, उसके स्तन बड़े विषम विकट हो गए हैं ।)

यहाँ पर 'बालहे' पञ्चमी एकवचन का रूप है । 'ङसि' के स्थान में 'हे' आदेश हो गया है ।

भ्यसामो हुः ॥ ३५१ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य भ्यस आमश्च हु इत्यादेशो भवति । (अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में संज्ञा से परे जो पञ्चमी और षष्ठी बहुवचन की विभक्तियाँ, उनके स्थान पर 'हु' आदेश होता है) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ।। १ ।।
[भव्यं (भद्रं) भूतं यन्मारितः भगिनि अस्मदीयः कान्तः ।
अलज्जिष्यत् वयस्याभ्यः यदि भग्नः गृहं ऐष्यत् ।।१।।]

(हे बहिनि, भला हुआ जो मेरा कंत मारा गया, यदि भाग कर घर आता तो वयस्याओं से वह या मैं लजवाई जाती ।)

यहाँ वयंसिअहु' पञ्चमी के बहुवचन में 'हु' आदेश का उदाहरण है। 'वयंसिअहु' षष्ठी के बहुवचन में भी होगा। अतः यह एक ही उदाहरण पञ्चमी और षष्ठी दोनों के बहुवचन का उदाहरण है।

वयस्याभ्यो वयस्यानां वेत्यर्थः (वयस्याओं से या वयस्याओं के)।

ङेर्हि ।। ३५२ ।।

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य हि इत्यादेशो भवति । अपभ्रंश में स्त्रीलिंग वाचक संज्ञा शब्दों से परे जो सप्तमी के एकवचन की 'ङि' विभक्ति उसको 'हि' आदेश होता है ।) यथा—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ।। १ ।।
[वायसं उड्डापयन्त्याः प्रियो दृष्टः सहसेति ।
अर्धानि वलयानि मह्यां गतानि अर्धानि स्फुटितानि तटिति ।।]

(कौए को उड़ाती हुई विरहिणी ने सहसा प्रिय को देखा । (इतने में) उसकी आधी चूड़ियाँ (विरह जन्य कृशता के कारण ढीली होने से) पृथ्वीं पर गिर गईं और आधी (प्रिय को देखने से जो हर्ष हुआ उसके कारण कृशता जाती रही और ढीली चूड़ियाँ भी) कड़ी होकर तड़तड़ करके टूट गईं ।)

यहाँ पर 'महिहि' सप्तमी एकवचन का रूप हैं । 'हि' का आदेश हुआ है ।

क्लीबे जस्-शसोरिं ।। ३५३ ।।

अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयोर्जस्शसोः इं इत्यादेशो भवति ।

अपभ्रंश में नपुंसक लिंग में वर्तमान जो संज्ञाशब्द, उससे परे जस् और शस् अर्थात् प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन की विभक्तियाँ उनके स्थान पर 'इं' आदेश होता है ।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमलइँ मेल्लवि अलिउलइं करि-गण्डाइं महन्ति।
असुलह मेच्छण जाहँ भलि ते ण वि दूर गणन्ति ।। १ ।।
[कमलानि मुक्त्वा अलिकुलानि करिगण्डान् कांक्षन्ति।
असुलभं एष्टुं येषां निर्बन्धः (भलि) ते नापि (नैव)-दूरं गणयन्ति ।।१।।]

(कमलों को छोड़कर अलिकुल (भ्रमर समूह) हाथियों के गण्ड-स्थल की आकांक्षा रखते हैं (वहाँ जाते हैं), दुर्लभ को प्राप्त करने की जिनकी इच्छा रहती है, वे दूरी को कुछ भी नहीं समझते।)

यहाँ पर 'कमलइँ' और 'करिगण्डाइँ' द्वितीया के बहुवचन के रूप हैं तथा 'अलिउलइं' प्रथमा के वहुवचन का रूप है।

कान्तस्यात उं स्यामोः ।। ३५४ ।।

अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानस्य ककारान्तस्य नाम्नो योकारस्तस्य स्यमोः परयोः उं इत्यादेशो भवति ।। (अपभ्रंश में नपुंसकलिंग में वर्तमान जो उकारान्त संज्ञा शब्द उनके अकार को 'सि' और 'अम्' अर्थात् प्रथमा और द्वितीया के एकवचन परे रहते 'उं' आदेश होता है।)

यथा—अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे ।। (३५०।१)

यहाँ 'तुच्छउँ प्रथमा के एकवचन का रूप है।

यथा—भग्गउँ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ।। १ ।।
[भग्नकं दृष्ट्वा निजकं बलं बलं प्रसृतकं परस्य।
उन्मीलति शशिलेखा यथा करे करवालः प्रियस्य ।। १ ।।]

(अपने बल (सेना) को भागते हुए तथा शत्रु के बल (सेना) को फैलते हुए देख कर प्रिय के हाथों में करवाल चन्द्रकला की तरह चमचमाने लगता है।)

यहाँ 'भग्गउँ' 'बलु' 'पसरिअउँ' द्वितीया के एकवचन के रूप हैं।

सर्वादेर्ङसेर्हां ।। ३५५ ।।

अपभ्रंशे सर्वादेरकारान्तात्परस्य ङसेर्हां इत्यादेशो भवति।

(अपभ्रंश में अकारान्त सर्वनामों से परे ङसि अर्थात् पञ्चमी के एकवचन की विभक्ति को 'हां' आदेश होता है।) यथा—

जहां होन्तउ आगदो। [यस्मात् भवान् अगतः] (जहाँ से आप आये हैं।) यहाँ 'यत्' सर्वनाम के पञ्चमी एकवचन में 'जहां' रूप बना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तहां होन्तउ आगदो। [तस्मात् भवान् आगतः।] (वहां से आप आये हैं।) यहाँ 'तहां' तत् शब्द के पञ्चमी एकवचन का रूप है।

कहां होन्तउ आगदो। [कस्मात् भवान् आगतः।] (कहां से आप आए हैं।) यहाँ 'कहां' किम् शब्द के पञ्चमी एकवचन का रूप है। सर्वत्र 'हां' आदेश हो गया है।

किमो डिहे वा ॥ ३५६ ॥

अपभ्रंशे किमोकारान्तात्परस्य ङसेर्डिहे इत्यादेशो वा भवति। (अपभ्रंश में किम् शब्द को पञ्चमी के एकवचन में 'डिहे' विकल्प से आदेश होता है।) यथा—

जइ तहे तुट्टउ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिलतार।
तं किहे वङ्केहिँ लोअणेहिं जोइज्जउँ सयवार ॥ १ ॥

[यदि तस्याः त्रुट्यतु स्नेहः मया सह नापि तिलतारः ॥
तत् कस्माद् वक्राभ्यां लोचनाभ्यां दृश्ये (अहं) शतवारम् ॥ १ ॥]

(यदि उसका स्नेह टूट गया, मेरे साथ उसकी दृष्टि नहीं मिलती तो फिर सैकड़ों बार उन वक्रलोचनों द्वारा मैं क्यों ढूंढ़ा जाता हूँ ?)

यहाँ 'किहे' पञ्चमी के एकवचन का रूप है।

ङेर्हिं ॥ ३५७ ॥

अपभ्रंशे सर्वादेरकारान्तात्परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य 'हिं' इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में अकारान्त सर्वनाम से परे सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति को 'हिं' आदेश होता है।)

यथा—जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिँ तेहइ भडघड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥१॥

[यत्र (या यस्मिन्) कल्प्यते शरेण शरः छिद्यते खड्गेन खड्गः।
तस्मिन् तादृशे भटघटानिवहे कान्तः प्रकाशयति मार्गम् ॥१॥]

(जहाँ बाण से बाण काटा जा रहा है, खड्ग से खड्ग का छेदन किया जा रहा है, वहाँ उस प्रकार के भटों की घटा (समूह) में मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता है।) यहाँ 'जहिँ' और 'तहिँ' सप्तमी एकवचन के रूप हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक्कहिँ अक्खिहिं सावणु अन्नहिँ भद्दवउ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ।
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिरु।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु॥ २॥

[एकस्मिन् अक्ष्णि श्रावणः अन्यस्मिन् भाद्रपदः।
माधवः (या माघः) महीतलस्रस्तरे गण्डस्थले शरत्।
अङ्गे[षु] ग्रीष्मः सुखासिकातिलवने मार्गशीर्षः।
तस्याः मुग्धायाः मुखपङ्कजे आवासितः शिशिरः॥२॥]

(उस मुग्धा की एक आँख में श्रावण; दूसरी आँख में भाद्रपद है। पृथ्वी तल पर स्थित उसके बिस्तरे पर माधव (या माघ मास) है; गण्डस्थल पर शरत् है, अङ्गों में ग्रीष्म है, सुखपूर्वक बैठने के तिलवन में मार्गशीर्ष है और उसके मुख-पङ्कज में शिशिर ने आवास किया है। तात्पर्य यह कि उसकी आँखों से निरन्तर आंसू गिरते हैं। उसका बिस्तर माधव-वसंत के समान पल्लव कल्पित हैं (या माघ की रात के समान ठण्ढा है।) उसके कपोल पीले पड़ गए हैं। उसका शरीर जल रहा है—मार्गशीर्ष में तिलवन का उच्छेद किया जाता है—वह रहता नहीं, उसी प्रकार उसका सुखपूर्वक बैठना नहीं रहा, शिशिर के कमल के समान उसका मुख हतश्री है।) यहाँ पर 'एक्कहिं', 'अन्नहिं' सप्तमी के एकवचन के रूप हैं। इसी प्रकार—

हिअडा फुट्टि तड त्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउँ हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयाइं॥३॥

[हृदय स्फुट तटिति (शब्दं) कृत्वा कालक्षेपेण किम्।
पश्यामि हतविधिः क्व स्थापयति त्वया विना दुःखशतानि॥३॥]

(हे हृदय, तड़-तड़ करके फट जा, कालक्षेप (व्यर्थ के समय बिताने) से क्या (फायदा)? देखें कि वह मेरा दुर्भाग्य तेरे बिना सैकड़ों दुःखों को कहाँ रखता है?) यहाँ पर 'कहिं' किम् शब्द के सप्तमी एकवचन का रूप है।

यत्तत्किम्भ्यो ङसो डासुर्नवा॥ ३५८॥

अपभ्रंशे यत्तत्किम् इत्येतेभ्योकारान्तेभ्यः परस्य ङसो डासु इत्यादेशो वा भवति। (अपभ्रंश में अकारांत यत्, तत्, किम्, से परे जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ङस् अर्थात् षष्ठी की एकवचन विभक्ति उसे 'डासु' विकल्प से आदेश होता है।)
यथा—

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइँ रूसइ जासु।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिँ वि ठाउ वि फेडइ तासु॥ १॥
[कान्तः अस्मदीयः हला सखिके निश्चयेन रुष्यति यस्य (यस्मै)।
अस्त्रैः शस्त्रैः हस्तैरपि स्थानमपि स्फोटयति तस्य॥ १॥]

(हला सखि, मेरे कन्त जिसको (जिससे) निश्चय रूप में रुष्ट हो जाते हैं; अस्त्र, शस्त्र और हाथों के द्वारा भी उसके घर तक को नष्ट कर डालते हैं। यहाँ 'जासु' और 'तासु' यत् और तत् शब्द के षष्ठी के एकवचन के रूप हैं।

इसी प्रकार—

जीविउ कासु न वल्लहउँ धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णि वि अवसर निवडिअइं तिण सम गणइ विसिट्ठु॥२॥
[जीवितं कस्य न वल्लभकं धनं पुनः कस्य नेष्टम्।
द्वे अपि अवसरनिपतिते तृण-समे गणयति विशिष्टः॥२॥]

(जीवन किसे प्रिय नहीं है? और धन किसे इष्ट नहीं है? पर समय आ पड़ने पर विशिष्ट व्यक्ति इन दोनों को तृण के समान समझता है। उनकी गणना में ये तृण के समान व्यर्थ हो जाते हैं।)

यहाँ पर 'कासु' किम् शब्द के षष्ठी के एक वचन का रूप है।

स्त्रियां डहे॥ ३५९॥

अपभ्रंशे स्त्रीलिंगे वर्तमानेभ्यो यत्तत्किंभ्यः परस्य ङसो डहे इत्यादेशो वा भवति। (अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में वर्तमान यत्, तत् और किम् शब्द से परे ङस् अर्थात् षष्ठी की एकवचन विभक्ति को विकल्प से 'डहे' आदेश होता है।) यथा—जहे केरउ [यस्याः कृते] (जिसके लिए) तहे केरउ [तस्याः कृते] (उसके लिए) कहे केरउ। [कस्याः कृते] (किसके लिए)।

यहाँ जहे, तहे और कहे, यत्, तत् और किम् शब्द के षष्ठी एकवचन स्त्रीलिंग के रूप हैं।

यत्तदः स्यमोर्ध्रुंत्रं॥ ३६०॥

अपभ्रंशे यत्तदोः स्थाने स्यमोः परयोर्यथासंख्यं ध्रुं त्रं इत्यादेशौ वा भवतः॥ (अपभ्रंश में यत् और तत् शब्द को प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में क्रमशः 'ध्रुं' और 'त्रं' आदेश होते हैं।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रन्ति ॥ १ ॥
[प्राङ्गणे तिष्ठति नाथः यत् तद् रणे करोति न भ्रान्तिम् ॥१॥]

(मेरे नाथ जो प्राङ्गण में खड़े हैं सो [अतः] रणक्षेत्र में नहीं हैं। यह भ्रांति है, वे रण में लड़ते भी हैं।) यहाँ 'ध्रुं' यत् शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप है और 'त्रं' तत् शब्द के प्रथमा एक वचन का। जहाँ 'ध्रुं'; 'त्रं' का आदेश नहीं होगा उसका उदाहरण—तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ। २। [तत् जल्पते यन्निर्वहति।] (वही कहते हैं जो निवहता-निभता है। २।)

यहाँ पर 'तं' और 'जु' के स्थान पर 'ध्रुं' 'त्रं' आदेश नहीं हुए हैं। 'तत्' और 'यत्' शब्द के प्रथमा द्वितीया के एकवचन के रूप हैं।

इदम इमुः क्लीबे ॥ ३६१ ॥

अपभ्रंशे नपुंसके लिङ्गे वर्तमानस्येदमः स्यमोः परयोः इमु इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में नपुंसकलिंग में स्थित इदम् शब्द के स्थान में प्रथमा और द्वितीया की एकवचन विभक्ति परे रहे तो 'इमु' आदेश होता है।) यथा—इमु कुलु तुह तणउँ। इमु कुलु देक्खु ॥ [इदं कुलं तव तनय।] (यह कुल तुम्हारा है तनय !), [इदं कुल पश्य।] (यह कुल देखो।) यहाँ पर प्रथम 'इमु' इदम् शब्द के प्रथमा एकवचन और द्वितीय 'इमु' द्वितीया के एकवचन का रूप है।

एतदः स्त्री-पुं क्लीबे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां पुंसि नपुंसके वर्तमानस्यैतदः स्थाने स्यमोः परयोर्यथासंख्यम् एह, एहो, एहु, इत्यादेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में एतत् शब्द के स्थान में स्त्रीलिंग, पुंलिंग और नपुंसकलिंग में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में क्रमशः एह, एहो और एहु आदेश होते हैं। अर्थात् स्त्रीलिंग में एह, पुंलिंग में एहो और नपुंसक लिंग में एहु आदेश होता है।) यथा—

एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह ठाणु।
एहउँ वढ चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु ॥ १ ॥
[एषा कुमारी एष (अहं) नरः एतन्मनोरथस्थानम्।
एतत् मूर्खाणां चिन्तमानानां पश्चाद् भवति विभातम् ॥१॥]

(यह कुमारी है, यह (मैं) पुरुष हूँ, यह मनोरथ-स्थान है, मूर्खों के यही सोचते-सोचते सबेरा हो जाता है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ 'एह', एहो और एहु; एतत् शब्द के स्त्री लिंग, पुंलिंग और नपुंसक लिंग के प्रथमा एकवचन के रूप हैं।

एइर्जस्शसोः ॥ ३६३ ॥

अपभ्रंशे एतदो जस्-शसोः परयोः एइ इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में प्रथमा, द्वितीया के बहुवचन में एतत् शब्द को 'एइ' आदेश हो जाता है।) यथा—एइ ति घोडा एह थलि [३ः०।४] यहाँ 'एइ' एतत् शब्द के पुंलिंग में प्रथमा बहुवचन का रूप है। ऐसे ही, एइ पेच्छ। [एतानि प्रेक्षस्व।] (इन्हें देखो।) यहाँ 'एइ' एतत् शब्द के द्वितीया बहुवचन का रूप है।

अदस ओइ ॥ ३६४ ॥

अपभ्रंशे अदशः स्थाने जस् शसोः परयोः ओइ इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में अदस् शब्द को 'ओइ' आदेश होता है।) यथा—

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥१॥

[यदि पृच्छथ महान्ति (वड्डाइं) गृहाणि तद् महान्ति गृहाणि अमूनि।
विह्वलितजनाभ्युद्धरणं कान्तं कुटीरके पश्य ॥१॥]

यदि तुम बड़े घर पूछ रहे हो तो बड़े घर वे रहे, [परंतु] विह्वलित (कष्ट में पड़े) लोगों के उद्धार करने वाले मेरे कान्त को (उस कुटी में देखो)। यहाँ पर 'ओइ', 'अदस्' शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप है। [बड़ा घर वही है जहाँ परोपकार होता है।) [अमूनि वर्तन्ते पृच्छ वा] (वे रहे या उनसे पूछो।)

इदम आयः ॥ ३६५ ॥

अपभ्रंशे इदम् शब्दस्य स्यादौ आय इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में 'सि' आदि (प्रथमा की एकवचनादि की) विभक्ति परे रहते इदम् शब्द के स्थान पर 'आय' आदेश हो जाता है।) यथा—

आयइँ लोअहे॑ लोअणइँ जाई सरइँ न भन्ति।
अप्पिएँ दिट्ठइ मउलिअहिं पिएँ दिट्ठइ विहसन्ति ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[इमानि लोकस्य लोचनानि जातिं स्मरन्ति न भ्रांतिः।
अप्रिये दृष्टे मुकुलन्ति प्रिये दृष्टे विकसन्ति ॥१॥]

(ये संसार के लोचन अपनी जाति को निभ्रांत रूप से स्मरण करते जाति-स्मर—पूर्वजन्म की बात याद करने वाले) हैं। अप्रिय को देख कर मुकुलित हो जाते हैं और प्रिय को देख कर प्रफुल्लित हो जाते हैं।) यहाँ 'आयइँ' इदम् शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप है। उसी प्रकार—

सोसउ म सोसउ च्चिअ उअहि वडवानलस्स किं तेण।
जं जलइ जले जलणो आएण वि किंन पज्जत्तं ॥२॥

[शुष्यतु मा शुष्यतु एव (= वा) उदधिः बडवानलस्य किं तेन ?
यद् ज्वलति जले ज्वलनः एतेनापि किं न पर्याप्तम् । २॥]

(समुद्र सूखे या न सूखे, इससे वडवानल को क्या (फायदा) ? जल में जो आग लगती है, क्या इतने ही से [इतना ही] पर्याप्त नहीं है ? यहाँ 'आएण' 'इदम्' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है।

आयहोँ दड्ढ-कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥३॥
[अस्य दग्धकलेवरस्य यद् वाहितं (लब्धं) तत्सारम्।
यदि आच्छाद्यते तत्कुथ्यति यदि दह्यते तत्क्षारः ॥ ३ ॥]

(इस दग्ध शरीर से जो भी मिल जाय वही सार (बहुत कुछ) है। यदि इसे ढका जाय तो दुर्गन्ध आने लगे; यदि जलाया जाय तो राख हो जाय।) यहाँ 'आयहो' इदम् शब्द के षष्ठी-बहुवचन का रूप है।

सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥

अपभ्रंशे सर्वशब्दस्य साह इत्यादेशो वा भवति ॥ (अपभ्रंश में सर्व शब्द को विकल्प से 'साह' आदेश होता है।) यथा—

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डुत्तणहोँ तणेण।
वड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ॥ १ ॥
[सर्वोऽपि लोकः प्रस्पन्दते (तडप्फडइ) महत्त्वस्य कृते।
महत्त्वं पुनः प्राप्यते हस्तेन मुक्तेन ॥ १ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(बड़प्पन के लिए सभी लोग तड़फड़ाते हैं पर मुक्त हाथ (दान करने) से बड़प्पन मिलता है।) यहां 'साहु' सर्व शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप है।

पक्षे सव्वु वि। (जहां 'साहु' आदेश नहीं होगा वहां 'सव्वु वि' रूप होगा।)

किमः काइं-कवणौ वा ॥ ३६७ ॥

अपभ्रंशे किमः स्थाने काइं कवण इत्यादेशौ वा भवतः ॥ (अपभ्रंश में किम् शब्द के स्थान पर 'काइं' और 'कवण' विकल्प से आदेश होते हैं।) यथा—

जइ न सु आवइ दूइ घरु काइँ अहोमुहुँ तुज्झु।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥ १ ॥
[यदि न स आयाति दूति गृहं किं अधोमुखं तव।
वचनं यः खण्डयति तव सखिके स प्रियो भवति न मम ॥१॥]

(हे दूति, यदि वह [प्रिय] घर नहीं आता तो तुम्हारा मुख क्यों लटका है ? हे सखि, जो तुम्हारी बात नहीं मानता वह मेरा प्रिय नहीं है।)

यहां 'काइं' किं शब्द के स्थान में आदेश हुआ है। इसी प्रकार काइं न दूरे देक्खइ [३४९।१] 'किम्' शब्द के स्थान मे 'काइँ' आदेश हुआ है।

फोडेन्ति जे हिअडउँ अप्पणउँ ताहँ पराई कवण घृण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥२।

संस्कृतच्छाया दे० [३५०।२] यहां 'किम्' के स्थान में 'कवण' है।

सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।
जिवँ जिवँ वडत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ॥ ३ ॥
[सुपुरुषाः कङ्गोः अनुहरन्ति भण कार्येण केन।
यथा यथा महत्त्वं लभन्ते तथा तथा नमन्ति शिरसा ॥ ३ ॥]

(भला बताओ, सज्जन पुरुष किस कार्य से [क्यों] कङ्गु नामक धान का अनुसरण करते हैं ? ज्यों-ज्यों बड़प्पन प्राप्त करते हैं त्यों-त्यों शिर से झुकने लगते हैं—नम्र होते हैं)। यहां भी किम् शब्द के स्थान मे 'कवण' आदेश हो गया है। विकल्प से 'काइँ' और 'कवण' आदेश होते हैं अतः जहां ये आदेश नहीं होगे वहां का रूप—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ।
बिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥ ४ ॥

[यदि सस्नेहा तन्मृता अथ जीवति निःस्नेहा ।
द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां गतिका (=गता) धन्या, किं गर्जसि खल मेघ ॥४॥]

(यदि वह सस्नेही है तब तो मर गई और यदि जीती है, तब तो उसमें स्नेह नहीं है, (अन्यथा मर गई रहती) दोनों प्रकार से धन्या गई । ऐ खल मेघ, क्या व्यर्थ गरज रहे हो ?) (किसी प्रवासी का कथन है ।) यहाँ किम्' शब्द के 'स्थान में 'काइँ' और 'कवण' न आदेश होकर 'किं' ही रह गया है ।

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

अपभ्रंशे युष्मदः सौ परे तुहुं इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में प्रथमा की एकवचन विभक्ति परे रहे तो युष्मद् शब्द को तुहुं' आदेश होता है ।) यथा—

भमर म रुणु झुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥ १ ॥

[भ्रमर मा रुणु झुणु शब्दं कुरु तां दिशं विलोकय मा रुदिहि ।
सा मालती देशान्तरिता यस्याः त्वं म्रियसे वियोगे ॥ १ ॥]

(हे भ्रमर, अरण्य में रुन- झुन ध्वनि मत कर, उस दिशा को देख कर मत रो, वह मालती दूसरे देश में चली गई जिसके वियोग में तू मर रहे हो ।) यहाँ पर 'तुहुँ' युष्मद् शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है ।

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ३६९ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो जसि शसि च प्रत्येकं तुम्हे तुम्हइं इत्यादेशौ भवतः। (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द को प्रथमा और द्वितोया के बहुवचन में तुम्हे और तुम्हइं आदेश होते हैं) ।

तुम्हे, तुम्हइं जाणह । [यूयं जानथ ।] (तुम लोग जानते हो ।) यहाँ युष्मद् शब्द के प्रथमा बहुवचन में 'तुम्हे' 'तुम्हइं' आदेश हो गए हैं । तुम्हे तुम्हइं पेच्छइ । [युष्मान् प्रेक्षते ।] (तुमलोगों को देखता है ।) यहाँ युष्मद् शब्द के द्वितीया बहुवचन में तुम्हे, तुम्हइं आदेश हो गए हैं । वचनभेदो यथासंख्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवृत्त्यर्थः। (वचनभेद इसलिए किया गया है कि प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः 'तुम्हे' और 'तुम्हइं' आदेश न होने लगें।)

टा-ङ्यमा पइं तइं ॥ ३७० ॥

अपभ्रंशे युष्मदः टा ङि अम् इत्येतैः सह पइं तइं इत्यादेशौ भवतः। टा। (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द से परे टा, ङि, अम् अर्थात् तृतीया, सप्तमी और द्वितीया की एकवचन की विभक्ति हो तो युष्मद् को उन विभक्तियों के साथ 'पइं' 'तइं' आदेश होते हैं।) तृतीया एकवचन में—

पइँ मुक्काहँ वि वरतरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं।
तुह पुणु छाया जइ होज्ज कह वि ता तेहिँ पत्तेहिं ॥ १ ॥

[त्वया मुक्तानामपि वरतरो विनश्यति (फिट्टइ) न पत्रत्वं पत्राणाम्।
तव पुनः छाया यदि भवेत् कथमपि तदा तैः पत्रैः (एव) ॥१॥]

(हे श्रेष्ठ तरु, तुमसे मुक्त होकर भी इन पत्तों का पत्रत्व नहीं नष्ट होता और तुमको यदि (किसी प्रकार) छाया होती है तो उन्हीं पत्तों से ही)। यहाँ तृतीया के एकवचन में 'पइं' आदेश हो गया है। इसी प्रकार—

मह हिअउँ तइँ ताए तुहुँ स वि अन्नें विनडिज्जइ।
पिअ काइँ करउँ हउँ काइँ तुहुँ मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥ २॥

[मम हृदयं त्वया, तया त्वं सापि अन्येन विनाट्यते।
प्रिय किं करोम्यहं किं त्वं मत्स्येन मत्स्यः गिल्यते ॥ २ ॥]

(मेरा हृदय तुम्हारे द्वारा, तुम्हारा उसके द्वारा, वह भी दूसरे पुरुष के द्वारा विनष्ट की जा रही है, ।तो हे प्रिय, मैं क्या करूँ और तुम क्या करोगे ? एक मछली दूसरी मछली के (ही तो) द्वारा निगली जाती है।)

यहाँ युष्मद् शब्द को तृतीया के एकवचन में टा विभक्ति के साथ 'तइं' आदेश हो गया है। अब सप्तमी के एकवचन में भी—

पइँ मइँ बेहिँ वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिँ लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ ॥ ३ ॥

[त्वयि मयि द्वयोरपि रणगतयोः को जयश्रियं तर्कयति।
केशैर्गृहीत्वा यमगृहिणीं भण सुखं कस्तिष्ठति ॥ ३ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(हम दोनों के रणक्षेत्र चले जाने पर जयश्री की तर्कना (अपने लिए) कौन कर सकता है ? अपने केशों के द्वारा यमगृहिणी को पकड़ कर बता कि कौन सुख से रह सकता है ?) यहाँ सप्तमी के एकवचन में 'पइँ' आदेश हो गया है। 'पइँ' के स्थान पर 'तइँ' आदेश होगा तब 'तइँ-मइँ' हो जायगा। आगे 'अम्' अर्थात् द्वितीया के एकवचन में युष्मद् शब्द को 'पइँ', 'तइँ' आदेश का उदाहरण है—

पइँ मेल्लन्तिहे॑ महु मरणु मइँ मेल्लन्तहो॑ तुज्झु।
सारस जसु जो वेग्गला सो वि कृदन्तहो॑ सज्झु ॥ ४ ॥

[त्वां मुञ्चन्त्याः मम मरणं मां मुञ्चतस्तव।
सारसः (यथा) यस्य दूरे (वेग्गळा) स कृतान्तस्य साध्यः ॥४॥]

(नायिका कह रही है कि) (तुझे छोड़ते हुए मेरा मरण हो रहा है और मुझे छोड़ते हुए तेरा; सारस के समान (हम दोनों में से) जो दूर रहेगा वह कृतान्त का साध्य है (लक्ष्य है) अर्थात् उसकी मृत्यु हो जायगी।)

यहाँ पइँ के स्थान पर तइँ आदेश होगा तब "तइँ मेल्लन्तिहे॑" इत्यादि भी एक उदाहरण हो जायगा।

भिसा तुम्हेहिं ॥ ३७१ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो भिसा सह तुम्हेहिं इत्यादेशो भवति। (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द से परे तृतीया का बहुवचन हो तो उसके साथ युष्मद् को 'तुम्हेहिं' आदेश हो जाता है।) यथा—

तुम्हे॑हिँ अम्हे॑हिँ जं कियउं दिट्ठउँ बहुअ जणेण।
तं तेवड्डउ समर-भरु निज्जिउ एक्क-खणेण ॥ १ ॥

[युष्माभिः अस्माभिः यत् कृतं दृष्टं बहुकजनेन।
तत् (=तदा) तावन्मात्रः समरभरः निर्जितः एकक्षणेन ॥ १ ॥]

(तुमने हमने जो किया, उसे बहुत लोगों ने देखा, वह इतना बड़ा समर एक ही क्षण में निःशेषतः जीत लिया गया।)

यहाँ युष्मन् शब्द को तृतीया बहुवचन में 'तुम्हे॑हिं' आदेश हो गया है।

ङसि ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ॥३७२ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो ङसिङस्भ्यां सह तउ तुज्झ तुध्र इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द को पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ङसि और ङस् विभक्ति के साथ तउ, तुज्झ और तुध्र ये तीन आदेश होते हैं।) यथा—तउ होन्तउ आगदो। [त्वत् भवन् आगतः।] (तुम्हारे यहाँ से आया है।) यहाँ 'तउ' आदेश है। तुज्झ होन्तउ आगदो। तुध्र होन्तउ आगदो। [त्वत् आगतः।] (तुम्हारे यहाँ से आया है।) सर्वत्र पञ्चमी एकवचन है। षष्ठी एकवचन में—

तउ गुणसंपइ तुज्झ मदि तुध्र अणुत्तर खन्ति।
जइ उप्पत्ति अन्न जण महिमण्डल सिक्खन्ति॥ १॥
[तव गुणसंपदं तव मतिं तव अनुत्तरां क्षान्तिम्।
यदि उत्पद्य अन्यजनाः महीमण्डले शिक्षन्ते॥ १॥]

(आपकी गुण-संपत्ति, आपकी बुद्धि, आपकी सर्वोत्तम क्षमा, यदि दूसरे व्यक्ति इस पृथ्वी मंडल पर उत्पन्न होकर सीख लेते!) यहाँ तउ, तुज्झ और तुध्र तीनों युष्मद् शब्द के षष्ठी एकवचन के रूप हैं।

भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं॥ ३७३॥

अपभ्रंशे युष्मदो भ्यस् आम् इत्येताभ्यां सह तुम्हहं इत्यादेशो भवति। (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द को भ्यस् और आम् विभक्ति के साथ अर्थात् पञ्चमी और षष्ठी के बहुवचन में 'तुम्हहं' आदेश होता है।) यथा—तुम्हहं होन्तउ आगदो। [युष्मत् भवन् आगतः।] (आप लोगों के यहाँ से आया है।) तुम्हहं केरउं धणु। (युष्माकं कृते धनम्।) (तुम लोगों के लिए धन।) उपर्युक्त दोनों स्थानों पर षष्ठी बहुवचन है।

तुम्हासु सुपा॥ ३७४॥

अपभ्रंशे युष्मदः सुपा सह तुम्हासु इत्यादेशो भवति॥ (अपभ्रंश में युष्मद् शब्द को सप्तमी के बहुवचन की सुप् विभक्ति के साथ 'तुम्हासु' आदेश हो जाता है। यथा—तुम्हासु ठिअं। [युष्मासु स्थितम्।] (आप लोगों पर स्थित है।)

सावस्मदो हउं॥ ३७५॥

अपभ्रंशे अस्मदः सौ परे हउं इत्यादेशो भवति (अपभ्रंश में अस्मद् शब्द से परे प्रथमा की एकवचन विभक्ति के साथ अस्मद् शब्द को 'हउं' आदेश होता है।) यथा—तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो [१३८।१]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जसूशसोरम्हे अम्हइं ॥ ३७६ ॥

अपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च परे प्रत्येकम् अम्हे अम्हइं इत्यादेशौ भवतः॥ (अपभ्रंश में अस्मद् शब्द को प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन की विभक्तियों के साथ अम्हे, अम्हइं आदेश होते हैं।) यथा—

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति॥ १॥

[वयं स्तोकाः रिपवः बहवः कातराः एवं भणन्ति।
मुग्धे निभालय गगनतलं कति जनाः ज्योत्स्नां कुर्वन्ति॥ १॥]

(हम थोड़े हैं, शत्रु बहुत हैं, ऐसा कायर कहते हैं। हे मुग्धे, इस गगनतल को देखो न, कितने जन (तारों से अभिप्राय है।) ज्योत्स्ना करते हैं।) (अर्थात् असंख्य तारे ज्योत्स्ना नहीं करते, केवल चन्द्र ही ज्योत्स्ना करता है।) 'अम्हइँ' आदेश का उदाहरण—

अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि।
अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिं जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि॥२॥

[अम्लत्वं लागयित्वा ये गताः पथिकाः परकीयाः केऽपि।
अवश्य न स्वपन्ति सुखासिकायां यथा वयं तथा तेऽपि॥२॥]

(अम्लत्व-स्नेह लगाकर जो पथिक—अन्य स्त्रियों के प्रियतम परदेश चले गए, अवश्य ही वे सुखपूर्वक नहीं सोते होंगे। जैसे हम हैं, (जैसी स्थिति हमारी है।) वैसे ही वे भी होंगे अर्थात् वे भी कष्ट में ही होंगे।) इसी प्रकार द्वितीया के बहुवचन में—अम्हे देक्खइ। अम्हइं देक्खइ। (अस्मान् पश्यति।) (हमलोगों को देखता है।) वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः। (वचनभेद इसलिए किया गया है कि प्रथमा बहुवचन में 'अम्हे' और द्वितीया बहुवचन में 'अम्हइं' क्रमशः न आदेश होने लगें।)

टा-ङ्यमा मइं ॥ ३७७ ।

अपभ्रंशे अस्मदः टा, ङि, अम् इत्येतैः सह मइं इत्यादेशो भवति। टा॥ (अपभ्रंश में अस्मद् से परे टा, ङि, अम् अर्थात् तृतीया, सप्तमी और द्वितीया की एकवचन-विभक्ति के साथ अस्मद् शब्द को 'मइं' आदेश होता है)। यथा—तृतीया के एकवचन में—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मइँ जाणिउँ पिअ विरहिअहं क वि धर होइ विआलि।
णवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ।। १ ।।

[मया ज्ञातं प्रियविरहितानां कापि धरा भवति विकाले।
केवलं (= परं) मृगाङ्कोऽपि तथा तपति यथा दिनकरः क्षयकाले ।।१।।]

(हे प्रिय, मैंने समझा था प्रिय रहित जनों के लिए विकाल (संध्या समय) कुछ धैर्य होगा, पर उस समय तो मृगलाञ्छनवाला यह चन्द्रमा इतना तपता है जितना प्रलयकाल में दिनकर (सूर्य) ।)

ङिना । सप्तमी के एकवचन में—पइं मइं बेहिं वि रणि गयहिं [३७०।३]
अमा । द्वितीया के एकवचन में—मइं मेल्लन्तहों तुज्झु । [३७०।४]

अम्हेहिं भिसा ।। ३७८ ।।

अपभ्रंशे अस्मदो भिसा सह अम्हेहिं इत्यादेशो भवति ।। (अपभ्रंश अस्मद् शब्द को तृतीया बहुवचन की विभक्ति के साथ 'अम्हेहिं' आदेश होता है ।) यथा—तुम्हेंहिँ अम्हेंहिँ जं किअउँ [३७१।१]

महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम् ।। ३७९ ।।

अपभ्रंशे अस्मदो ङसिना ङसा च सह प्रत्येकं महु मज्झु इत्यादेशौ भवतः ।। (अपभ्रंश में अस्मद् शब्द को पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन की विभक्ति के साथ 'महु' और 'मज्झु' आदेश होते हैं ।) यथा—महु होन्तउ गदो । मज्झु होन्तउ गदो ।। [मत्तः गतः ।] (मेरे यहाँ से गया है ।)

ङसा । षष्ठी के एकवचन का उदाहरण—

महु कन्तहों वे दोसडा हेल्लि म झङ्खहि आलु।
देन्तहों हउँ पर उव्वरिअ जुज्झन्तहों करवालु ।। १ ।।
[मम कान्तस्य द्वौ दोषौ सखि मा पिधेहि अलीकम्।
ददतः परं अहं उर्वरिता युध्यमानस्य करवालः ।। १ ।।]

(हे सखि, झूठ मत बोल, मेरे कान्त के दो दोष हैं, दान करते हुए तो मैं बच गई (मुझे किसी को दान में नहीं दिया, एक दोष यह) और युद्ध करते हुए तलवार बच गई, (यह दूसरा ।) यहाँ षष्ठी के एकवचन में 'महु' आदेश हुआ है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठी के एकवचन में मज्झु आदेश का उदाहरण—

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण॥ २॥

[यदि भग्नाः परकीयाः तत्सखि मम प्रियेण।
अथ भग्नाः अस्मदीयाः तत्तेन मारितेन॥ २॥]

(हे सखि, यदि शत्रु पक्षवाले भागे तो मेरे प्रिय से और यदि हमारे पक्षवाले भागे तो प्रियतम के मारे जाने से।)

अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥

अपभ्रंशे अस्मदो भ्यसा आमा च सह अम्हहं इत्यादेशो भवति॥ (अपभ्रंश में अस्मद् शब्द को पञ्चमी और षष्ठी की बहुवचन-विभक्ति के साथ 'अम्हहं' आदेश होता है।) यथा—अम्हहं होन्तउ आगदो। (अस्मद् आगतः।) (हम लोगों के यहाँ से आया है।) आमा। (षष्ठी के बहुवचन में) अह भग्गा अम्हहं तणा [३७९.२]

सुपा अम्हासु॥ ३८१ ॥

अपभ्रंशे अस्मदः सुपा सह अम्हासु इत्यादेशो भवति॥ (अपभ्रंश में अस्मद् शब्द को सप्तमी की बहुवचन-विभक्ति के साथ अम्हासु आदेश हो जाता है।) यथा— अम्हासु ठिअं॥ [अस्मासु स्थितम्।] (हम लोगों में स्थित।)

त्यादेराद्यत्रयस्य संबन्धिनो हिं न वा॥ ३८२ ॥

त्यादीनामाद्यत्रयस्य संबन्धिनो बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्य वचनस्यापभ्रंशे हिं इत्यादेशो वा भवति॥ ('ति' इत्यादि जो आद्यत्रय अर्थात् अन्यपुरुष की एकवचन, द्विवचन और बहुवचन की विभक्तियाँ हैं, उनमें बहुवचन विभक्ति को अपभ्रंश में विकल्प से 'हि' आदेश होता है।) यथा—

मुह-कबरि-बन्ध तहे सोह धरहिँ।
नं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहिं॥
तहे सहहिँ कुरल भमर-उल-तुलिअ।
नं तिमिर-डिम्भ खेल्लन्ति मिलिअ॥ १॥

[मुखकबरीबन्धौ तस्याः शोभां धरतः।
ननु मल्लयुद्धं शशिराहू कुरुतः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्याः शोभन्ते कुरलाः भ्रमरकुलतुलिताः ।
ननु तिमरडिम्भाः क्रीडन्ति मिलिताः ॥ १ ॥]

(उसके मुख और कबरीवन्ध शोभा धारण करते हैं, मानो शशि और राहु मल्लयुद्ध कर रहे हैं । भ्रमरकुल के समान (काले काले) उसके अलक ऐसे लग रहे हैं, मानो अन्धकार के बच्चे मिल कर खेल रहे हैं ।)

यहाँ 'वरहिँ' 'करहिँ' संस्कृत द्विवचन हैं पर अपभ्रंश के बहुवचन में, और 'सहहिँ' भी बहुवचन का रूप है । यहाँ बहुवचन में 'हिँ' विभक्ति लगी है ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां मध्यत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे हि इत्यादेशो वा भवति ॥ (तिङ् प्रत्यहार के मध्यत्रय अर्थात् मध्यमपुरुष, उसके आदि वचन (एकवचन) की विभक्ति को 'हि' आदेश हो जाता है ।) यथा—

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥ १ ॥
[चातक, "पिउ पिउ" (पिबामि पिबामि तथा प्रियः प्रियः इति)
भणित्वा कियद्रोदिषि हताश ।
तव जले, मम पुनर्वल्लभे, द्वयोरपि न पूरिता आशा ॥ १ ॥]

(हे चातक, "पिउ पिउ", "पीऊँगा पीऊँगा" और 'प्रिय, प्रिय' ऐसा कहकर हताश, कब तक रोओगे ? जल के संबंध में तुम्हारी और प्रियतम के सम्बन्ध में मेरी आशा नहीं पूरी होगी ।) यहाँ पर 'रुअहि' में मध्यमपुरुष एकवचन की 'हि' विभक्ति लगी है ।

आत्मने पदे—(आत्मनेपद में भी) मध्यमपुरुष एकवचन में 'हि' आदेश होता है ।) यथा—

बप्पीहा कइँ बोल्लिएण निग्घिण वार इ वार ।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार ॥२॥
[चातक किं कथनेन निर्घृण वारंवारम् ।
सागरे भृते विमलजलेन लभसे न एकामपि धाराम् ॥२॥]

(हे निर्दय चातक, बार-बार रटने से क्या (फायदा) ? विमल जल से सागर के भरे रहने पर भी एक भी धारा [बूंद] उसमें से नहीं प्राप्त कर सकता ।) यहाँ 'लहहि' में आत्मनेपद में भी 'हि' आदेश हो गया है । सप्तम्याम् । (सप्तमी में भी हि आदेश होता है ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयहिँ जम्महिँ अन्नहिँ वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहँ चत्तङ्कुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु ॥ ३ ॥
[अस्मिन् जन्मनि अन्यस्मिन्नपि गौरि तं दद्याः कान्तम् ।
गजानां मत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां यः संगच्छते हसन् ॥ ३ ॥]

(हे गौरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी वही कान्त देना, जो मदमत्त और अंकुश की कुछ भी परवा न करने वाले हाथियों से आकर भिड़ जाय ।)

यहाँ 'आयहिँ', 'जम्महिँ', 'अन्नहिँ' ये सप्तमी एक वचन के रूप हैं तथा 'दिज्जहि' मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है । यहाँ 'हि' विभक्ति लगी है । मध्यम पुरुष के एकवचन के स्थान पर विकल्प से 'हि' का आदेश होता है । आदेश जहाँ नहीं होगा वहाँ पर 'रुअसि हयास' इत्यादि रूप होंगे ।

बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां मध्यमत्रयस्य संबन्धि बहुष्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्यापभ्रंशे हु इत्यादेशो वा भवति ॥ ('ति' आदि में मध्यमत्रय अर्थात् मध्यमपुरुष, उसके बहुवचन की विभक्ति के स्थान पर विकल्प से 'हु' आदेश हो जाता है ।) यथा—

बलि-अब्भत्थणि महु-महणु लहुई हूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डुतणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥ १ ॥
[बलेः अभ्यर्थने मधुमथनो लघुकीभूतः सोऽपि ।
यदि इच्छथ महत्त्वं (वड्डुत्तणउं) दत्त, मा मार्गयत कमपि ॥१॥]

(बलि की अभ्यर्थना (याचना) करने पर वह मधुमथन (विष्णु) भी लघु हो गए, यदि महत्ता चाहते हो तो दो, पर किसी से माँगों मत ।) यहाँ 'इच्छहु' मध्यम पुरुष बहुवचन-विभक्ति के स्थान में 'हु' आदेश है । 'हु' आदेश विकल्प से होता है । अतः जहाँ नहीं होगा वहाँ—'जइ इच्छह' ऐसा रूप रह जायगा ।

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनामन्त्यत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे उं इत्यादेशो वा भवति। ('ति' आदि में अन्त्यत्रय अर्थात् उत्तमपुरुष के एकवचन की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभक्ति के स्थान में अपभ्रंश में विकल्प से 'उं' आदेश हो जाता है।) यथा—

विहि विणडउ पीडन्तु गह मं धणि करहिं विसाउ।
संपइ कड्ढउँ वेस जिवँ छुड्डु अग्घइ ववसाउ ॥ १ ॥
[विधिर्विनाटयतु ग्रहाः पीडयन्तु मा धन्ये कुरु विषादम्।
संपदं कर्षामि वेषमिव यदि अर्घति (स्यात्) व्यवसायः ॥१॥]

(भाग्य नाश कर दे, ग्रह पीड़ा दें, (फिर भी) हे धन्या, विषाद मत कर। यदि व्यवसाय मिले तो संपत्ति को वेश (या वेश्या) के समान निकाल लूँगा।)

यहाँ पर 'कड्ढउं' उत्तम पुरुष एकवचन की विभक्ति के स्थान पर 'उँ' आदेश है। ऐसे ही बलि किज्जउँ सुअणस्सु [३३८।१] यहाँ 'किज्जउँ' उत्तम पुरुष एकवचन का रूप है।

'उं' आदेश विकल्प से होता है, अतः जहाँ नहीं होगा वहाँ—'संपइ कड्ढामि' इत्यादि रूप होंगे।

बहुत्वे हुं ॥ ३८६ ॥

त्यादीनामन्त्यत्रयस्य संबन्धि बहुष्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्य 'हुं' इत्यादेशो वा भवति ॥ ('ति' आदि के अन्त्यत्रय अर्थात् उत्तमपुरुष बहुवचन की विभक्ति को अपभ्रंश में विकल्प से 'हुं' आदेश होता है।) यथा—

खग्ग विसाहिउ जहिँ लहहुं पिय तहिँ देसहिँ जाहुं।
रण दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥१॥
[खड्गविसाधितं यत्र लभामहे तत्र देशे यामः।
रणदुर्भिक्षेण भग्नाः विना युद्धेन न वलामहे ॥ १ ॥]

(हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय प्राप्त करें उस देश में हम चलेंगे। रण के दुर्भिक्ष के कारण (युद्ध न होने के कारण) हम टूट गए हैं—दुर्बल हो गए हैं। युद्ध के बिना नहीं बल प्राप्त करेंगे।) यहाँ 'लहहुं' उत्तमपुरुष बहुवचन का रूप है। जहाँ पर 'हुं' आदेश नहीं होगा, वहाँ 'जहिँ लहिमु' ऐसा रूप रह जायगा।

हि स्वयोरिदुदेत् ॥ ३८७ ॥

पञ्चम्या हि स्वयोरपभ्रंशे इ उ ए इत्येते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ (आज्ञा अर्थ में मध्यम पुरुष के एकवचन और बहुवचन में अपभ्रंश की विभक्ति 'इ' 'उ' और ए विकल्प से आदेश होती हैं)। इत्। इ आदेश यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ।।१।।

[कुञ्जर स्मर मा सल्लकीः सरलान् श्वासान् मा मुञ्च ।
कवलाः ये प्राप्ताः विधिवशेन तांश्चर मानं मा मुञ्च ।।१।।

(हे कुंजर, सल्लकी नामक वृक्षों का स्मरण न कर और लंबी साँस मत छोड़; भाग्य-वश जो कवल प्राप्त कर लिया है, उसी को चर, पर अपने मान को मत छोड़ ।) यहाँ 'सुमरि' 'मेल्लि' और 'चरि' मध्यम पुरुष एकवचन में आज्ञा अर्थ में 'इ' आदेश के उदाहरण हैं ।

'उ' आदेश का उदाहरण—

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केँ वि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ।। २ ।।

[भ्रमर अत्रापि निम्बके कति (चित्) दिवसान् विलम्बस्व ।
घनपत्रवान् छायाबहुलो फुल्लति यावत्कदम्बः ।।]

(हे भौंरे, यहीँ नीम पर ही कुछ दिन व्यतीत कर, जब तक घने पत्तोंवाला छाया बहल (संपन्न) कदंब नहीं फूलता ।) यहाँ 'विलम्बु' में मध्यमपुरुष बहुवचन की 'उ' विभक्ति का आदेश हुआ है ।

'ए' आदेश का उदाहरण—

प्रिय एम्वहिँ करेँ सेल्लु करि छड्डुहि तहुँ करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लेहिँ अभग्गु कवालु ।। ३ ।।
[प्रिय एवमेव कुरु भल्लं करे, त्यज त्वं करवालम् ।
येन कापालिका वराकाः लान्ति अभग्नं कपालम् ।। ३ ।।]

(हे प्रिय, ऐसे ही हाथ में भाला रख, करवाल (तलवार) छोड़ दे, जिससे वेचारे कापालिक अभग्न कपाल लें ।) यहाँ 'करेँ' मध्यम पुरुष एकवचन में 'ए' विभक्ति आदेश का उदाहरण है ।

जहाँ ये वैकल्पिक आदेश नहीं होगे, वहाँ सुमरि आदि के स्थान पर 'सुमरहि' आदि रूप होंगे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्त्स्यति-स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

अपभ्रंशे भविष्यदर्थविषयस्य त्यादेः स्यस्य सो वा भवति ॥ (अपभ्रंश में भविष्यत् अर्थ जहां विषय हो वहां 'ति' आदि में 'स्य' के स्थान में 'स' विकल्प से आदेश होता है।) यथा—

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिँ मनोरह पच्छि।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ १ ॥

[दिवसा यान्ति वेगैः (झडपडुहिं) पतन्ति मनोरथाः पश्चात्।
यदस्ति तन्मान्यते भविष्यति (इति) कुर्वन् मा आस्स्व॥१॥]

(दिवस झटपट बड़े वेग से निकलते चले जा रहे हैं, मनोरथ पीछे ही रह जाते हैं। (अतः) जो है, उसी को मानते हैं। 'होगा' ऐसा कहते हुए मत ठहरिए।) यहां 'होसइ' 'भविष्यति' के स्थान पर है। भविष्यकाल के 'ष्य' के स्थान पर अपभ्रंश में 'स' आदेश का उदाहरण है। यह 'स' विकल्प से आदेश से होता है, अतः जहां नहीं आदेश होगा वहां 'होहिइ' रूप रहेगा।

क्रियेः कीसु ॥ ३८९ ॥

क्रिये इत्येतस्य क्रियापदस्यापभ्रंशे कीसु इत्यादेशो वा भवति ॥ (कृञ् धातु से बना हुआ 'क्रिये' रूप जो क्रियापद उसे अपभ्रंश में 'कीसु' आदेश विकल्प से होता है।) यथा—

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥ १ ॥

[सतो भोगान् यः परिहरति तस्य कान्तस्य बलिं क्रिये।
तस्य दैवेनैव मुण्डितं यस्य खल्वाटं शीर्षम्॥१॥]

(भोगों के रहते हुए भी जो उन्हें छोड़ देता है, उस कान्त को मैं बलि जाऊँ, जो खल्वाट है (गंजा है), उसे तो दैव ने ही मुण्डित किया है।)

यहाँ कीसु 'क्रिये' के स्थान पर आदेश है।

'क्रिये' के स्थान में 'कीसु' विकल्प से आदेश होता है अतः जहां नहीं होगा वहां बलि क्रिज्जउँ सुअणस्सु (३३८/१) 'किज्जउँ' रूप भी होगा। साध्यमानावस्थात् क्रिये इति संस्कृतशब्दादेष प्रयोगः ॥ ('क्रिये' यह रूप संस्कृत तिङन्त का साध्यप्रयोग है। इसी के स्थान में 'कीसु' आदेश होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ॥ ३९० ॥

अपभ्रंशे भुवो धातोः पर्याप्तावर्थे वर्तमानस्य हुच्च इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में पर्याप्ति अर्थ में विद्यमान भू धातु को हुच्च आदेश होता है।) यथा—

अइतुंगत्तणु जं थणहं सो छेयउ न हु लाहु।
सहि जइ केवँइ तुडि वसेँण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥ १ ॥

[अतितुङ्गत्वं यत्स्तनयोः स च्छेदकः न खलु लाभः।
सखि यदि कथमपि त्रुटिवशेन अधरे प्रभवति नाथः ॥१॥

(स्तनों की जो अत्यन्त ऊँचाई है, वह कष्टकर ही है, लाभकर नहीं। हे सखि, इनके कारण प्रियतम किसी प्रकार से बहुत देर से अधर तक पहुँच पाते हैं)।

यहाँ भवति के स्थान में हुच्च आदेश हो गया है। प्रभवति = पहुच्च।

ब्रूगो ब्रुवो वा ॥ ३९१ ॥

अपभ्रंशे ब्रूगो धातोर्ब्रुव इत्यादेशो वा भवति ॥ (अपभ्रंश में ब्रूग धातु को ब्रुव आदेश विकल्प से होता है।) यथा—ब्रुवह सुहासिउ किंपि। (ब्रूत सुभाषितं किमपि) (कुछ सुभाषित कहो)। पक्षे। (जहाँ आदेश नहीं होगा। वहाँ)—

इत्तउँ ब्रोँप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोँप्पि।
तो हउँ जाणउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ १ ॥

[इयत् उक्त्वा शकुनिः स्थितः पुनर्दुःशासन उक्त्वा।
तदा अहं जानामि एष हरिः यदि ममाग्रतः उक्त्वा ॥ १ ॥]

(इतना कहकर शकुनि चुप रहा, फिर दुःशासन बोलकर चुप रहा, तब मैं समझूँ कि यह हरि हैं जब मेरे आगे से बोलकर—॥) 'ब्रोप्पिणु' 'ब्रोप्पि' आदि पूर्वकालिक क्रिया के रूप हैं।

व्रजे र्वुञः ॥ ३९२ ॥

अपभ्रंशे व्रजतेर्धातोर्वुञ इत्यादेशो भवति। (अपभ्रंश में व्रज धातु को वुञ आदेश होता है।) यथा-वुञइ (व्रजति) (जाता है।), वुञेप्पि, वुञेप्पिणु (व्रजित्वा) (जाकर) इत्यादि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृशेः प्रस्सः ॥ ३६३ ॥

अपभ्रंशे दृशेर्धातोः प्रस्स इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में 'दृश' धातु को प्रस्स आदेश होता है।) यथा—प्रस्सदि [पश्यति] (देखता है)।

ग्रहेर्गृण्हः ॥ ३६४ ॥

अपभ्रंशे ग्रहेर्धातोः गृण्ह इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में ग्रह धातु को गृण्ह आदेश होता है।) यथा—पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु। [पठ गृहीत्वा व्रतम्।] (व्रत ग्रहण करके पढ़ो।)

तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥ ३६५ ॥

अपभ्रंशे तक्षिप्रभृतीनां धातूनां छोल्ल इत्यादय आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में तक्षि प्रभृति धातुओं को छोल्ल आदि आदेश होते हैं।)

यथा—जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम का वि लहन्तु ॥ १ ॥
[यथा तथा तीक्ष्णान् करान् लात्वा यदि शशि अतक्षिष्यत।
तदा जगति गौर्या मुखकमलेन सदृशतां कामपि अलप्स्यत ॥ १ ॥]

(जैसे तैसे तीक्ष्ण किरणों को लेकर यदि चन्द्र को छीला जाता तब यदि गोरी के मुख-कमल की समता कुछ पाता तो पाता)। यहाँ 'तक्षि' को 'छोल्ल' आदेश हो गया। आदि ग्रहणाद् देशीषु ये क्रियावचना उपलभ्यन्ते ते उदाहार्याः ॥

(सूत्र में 'आदि' शब्द का ग्रहण किया गया है, अतः तत्सामर्थ्यात् देशी में भी जो क्रियाएँ आदेशवाली मिलें, उनका उदाहरण दिया जा सकता है।)

तापय् के स्थान में झलक्क (देशी) आदेश होता है। यथा—

चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल जाल-झलक्किअउ वाह-सलिल संसित्तउ ॥ २ ॥
[कङ्कणं चूर्णीभवति स्वयं मुग्धे कपोले निहितम्।
श्वासानलज्वालासंतप्तं वाष्पजलसंसिक्तम् ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(कंगन चूर चूर हो जाता है स्वयं मुग्धा के कपोल पर पड़कर, (वहीं) गर्म श्वास की ज्वाला से जलकर तथा आँसू जल से संसिक्त होकर)। यहाँ कङ्कण को चूडुल्ल, तापम् को झलक्क आदेश हो गये हैं।

अनुगम्य के स्थान पर 'अब्भडवंचिउ' आदेश हो जाता है—

अब्भडवंचिउ वे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता तावँ॥ ३॥
[अनुगम्य द्वे पदे प्रेम निवर्तते यावत्।
सर्वाशनरिपु संभवस्य कराः परिवृत्ताः तावत्॥ ३॥]

(दो पग साथ चलकर जब तक प्रिय लौटता है, जब तक प्रेम निर्वाह करता है तब तक सर्वाशन (सब खाने वाले = अग्नि) के रिपु = जल-समुद्र से संभव = उत्पन्न (चन्द्रमा) की किरणें अस्त हो गईं॥)

'शल्यायते' के स्थान में खुडुक्कइ' और गर्जति के स्थान में 'घुडुक्कइ' आदेश होते हैं।—

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति पवासुअहं विसमा संकडु एहु॥ ४॥
[हृदये शल्यायते गौरी गगने गर्जति मेघः।
वर्षारात्रे प्रवासिकानां विषमं संकटमेतत्॥ ४॥]

(हृदय में गौरी शाल रही है, गगन में मेघ गर्ज रहा है। वर्षा की रात में प्रवासियों के लिए विषम संकट है।)

संस्कृत में 'स्था' धातु के स्थान पर जहाँ तिष्ठ आदेश होता है, अपभ्रंश में तिष्ठतः के स्थान पर 'थन्ति' आदेश होता है—(द्वि० व० के लिए० बहु व० का रूप)

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जें संमुह थन्ति।
महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति॥ ५॥
[अम्ब पयोधरौ वज्रमयौ नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः।
मम कान्तस्य समराङ्गणके गजघटाः भंक्तुं यातः॥ ५॥]

(हे अम्मा, (ये) पयोधर वज्रमय हैं जो नित्य ही कंत के संमुख [डटे] रहते हैं। समराङ्गण में गजघटा को भग्न करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आक्रम्यते के स्थान पर 'चम्पिज्जइ' आदेश होता है—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥ ६॥

[पुत्रेण जातेन को गुणः अपगुणः कः मृतेन।
यत् पैतृकी (बप्पीकी) भूमिः आक्रम्यतेऽपरेण॥ ६॥]

(उस) पुत्र के होने से क्या लाभ? और उसके मरने से क्या हानि? यदि उसके बाप की भूमि दूसरे के द्वारा चांप ली जाय (ग्रहण कर ली जाय)।

शब्दायते = (ध्वनि करोति) के लिए 'धुठ्ठुअइ' आदेश हो जाता है—

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु।
तिसहे निवारणु पलु वि न वि पर धुट्ठुअइ असारु॥ ७॥

[तत् तावत् जलं सागरस्य स तावान् विस्तारः।
तृषो निवारणं पलमपि नैव परं शब्दायते असारः॥ ७॥]

(सागर का वह उतना जल! वह उतना विस्तार! परन्तु, तृषा का निवारण क्षण भर भी नहीं होता फिर भी व्यर्थ ही घू-घू कर रहा है।)

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः॥ ३९६॥ अपभ्रंशेऽपदादौ वर्तमानानां स्वरात्परेषामसंयुक्तानां क ख त थ प फां स्थाने यथासंख्यं ग घ द ध ब भाः प्रायो भवन्ति॥ (अपभ्रंश में पद के अनादि (आदि को छोड़कर) में वर्तमान जो स्वर से परे तथा असंयुक्त क, ख, त, थ, प, फ, उनके स्थान में यथासंख्य = क्रमशः ग, घ, द, ध; ब, भ, प्रायः आदेश हो जाते हैं।) 'क' के स्थान में 'ग' का उदाहरण—

जं दिट्ठउँ सोमग्गहणु असइहिं हसिउँ निसङ्कु।
पिअ माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयङ्कु॥ १॥

[यद् दृष्टं सोमग्रहणमसतीभि. हसितं निःशंकम्।
प्रियमनुष्यविक्षोभकरं गिल गिल राहो मृगाङ्कम्॥१॥]

(चन्द्र ग्रहण को जो असतियों ने (कुलटाओं ने) देखा तो निःशंक भाव से हँसीं, प्रियजनों के वियोग [विछोह] करने वाले चन्द्र को राहु! निगलो निगलो।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खस्य घः। ख का घ होने का उदाहरण—

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिँ चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ २ ॥
[अम्ब स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः।
प्रिये दृष्टे व्याकुलत्वेन (हल्लोहलत्न) कश्चेतयति आत्मानम् ॥२॥

(हे अम्मा, स्वस्थावस्था में सुख से [में] मान किया जाता है। प्रिय को देखने पर हलबल में अपने को भी कौन चेतता है ?) यहाँ 'सुख' में ख को 'घ' हो गया है। पाठ भेद में 'सुघे' भी मिलता है, जो अधिक ठीक प्रतीत होता है।

त, थ, प और फ को द, ध, व और भ होने के उदाहरण—

सबधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउँ जम्मु।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु ॥ ३ ॥
[शपथं कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफलं जन्म।
यस्य न त्यागः न च आरभटी न च प्रमृष्टः धर्मः ॥३॥

(शपथ करके मैंने कहा—उसी का सफल जन्म है, जिसका न त्याग न शौर्य और न धर्म नष्ट है।) यहाँ शपथ:—सबधु में प = व और थ = ध हो गये हैं। कधिदु (कथितं) में त को द हो गया है। सभलउँ, [सफलम्] में प का भ हो गया है।

अनादाविति किम्। (सूत्र में अनादि ग्रहण क्यों किया गया ?) सबधु करेप्पिणु। अत्र कस्य गत्वं न भवति। (करेप्पिणु में आदि में स्थित क का ग न हो जाय)। स्वरादिति किम्। (सूत्र में स्वर से परे रहने पर ही यह नियम क्यों बताया है ?) गिलि गिलि राहु मअङ्क (यहाँ पर मयङ्क में व्यञ्जन ङ् से परे क को ग न हो जाय।) असंयुक्तानामिति किम्। (सूत्र में असंयुक्त शब्द का ग्रहण क्यों किया ?) एक्किहिँ अक्खिहिँ सावणु (३५७।२) में (क से संयुक्त होने पर क का ग नहीं हुआ)। प्रायोऽधिकारात्क्वचिन्न भवति ॥ (सूत्र में 'प्रायः' शब्द का ग्रहण किया गया है, अतः कहीं कहीं पर यह क आदि के आदेश नहीं भी होते।) इसके लिए उदाहरण—

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गेँ पइसीसु ॥४॥
[यदि कथञ्चित् प्राप्स्यामि प्रियं अकृतं कौतुकं करिष्यामि।
पानीयं नवके शरावे यथा सर्वाङ्गेण प्रवेक्ष्यामि ॥४॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(यदि कथंचित् प्रिय को प्राप्त कर लूँ तो न किया हुआ कौतुक भी कर लूँ पानी जैसे नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है वैसे पैठ जाऊँगी [जाऊँ]।)

इसी प्रकार—उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चण-कन्ति-पयासु।

गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वणवासु ॥ ५ ॥

[पश्य कर्णिकारः प्रफुल्लितकः काञ्चनकान्तिप्रकाशः।
गौरी वदन-विनिर्जितकः ननु सेवते वनवासम् ॥ ५ ॥]

(देख, कञ्चन कान्ति जैसा प्रभावाला कर्णिकार प्रफुल्लित हुआ। वह गोरी के वदन से पराजित (हो) मानों वनवास सेवन कर रहा है।) यहाँ भी क आदि के स्थान में ग आदि आदेश नहीं हुए हैं, क्योंकि सूत्र में 'प्रायः' ग्रहण किया गया है।

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको वकारो वा भवति। (अपभ्रंश में अनादि (आदि रहित) स्थित असंयुक्त वर्ण का मकार अनुनासिक 'वँ' कार विकल्प से होता है।) यथा—कवँलु ! [कमलु।] भवँरु, [भमरु]। लाक्षणिकस्यापि। (लाक्षणिक को भी) जिवँ =(जिम) तिवँ =(तिम), जेवँ =(जेम), तेवँ =(तेम)। अनादि में स्थित ही मकार को 'वँ' होता है, अतः मयणु में म को नहीं हुआ क्योंकि आदि में है। असंयुक्त-स्येत्येव। (असंयुक्त मकार को ही 'वँ' होता है।) अतः—तसु पर सभलउँ जम्मु ३९६।३ [तस्य परं सफलं जन्म] में संयुक्त होने के कारण जन्म में मकार 'वँ' नहीं हुआ।

वाधो रो लुक् ॥ ३९८ ॥

अपभ्रंशे संयोगादधो वर्तमानो रेफो लुग् वा भवति। (अपभ्रंश में संयोग में नीचे स्थित जो रेफ उसका विकल्प से लोप हो जाता है।) यथा—'जइ केवँइ पावीसु पिउ' [३९६।४] यहाँ 'प्रिय' में नीचे स्थित रेफ का लोप है। जहाँ लोप नहीं होगा वहाँ रेफसहित रूप रहेगा। यथा—जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु प्रियेण ॥ [३७९।२]

अभूतोऽपि क्वचित् ॥ ३९९ ॥

अपभ्रंशे क्वचिदविद्यमानोऽपि रेफो भवति॥ (अपभ्रंश में कहीं-कहीं जहाँ रेफ नहीं रहता वहाँ भी आ जाता है।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रासु महारिसि एँउ भणइ जइ सुइ सत्थु पमाणु।
मायहँ चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गंगा-ण्हाणु ॥ १ ॥
[व्यासमहर्षिः एतद्भणति यदि श्रुतिशास्त्रं प्रमाणम्।
मातॄणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गा-स्नानम् ॥ १॥]

(व्यास महर्षि यह कहते हैं—यदि श्रुति और शास्त्र प्रमाण हैं तो माताओं के चरणों में नमने वालों को दिन-दिन गङ्गा स्नान (का फल मिलता है।) क्वचिदितिकिम्। [कहीं कहीं क्यों कहा ? इसलिए कि] जहां नहीं होगा वहाँ--वासेण वि भारहखम्भि बद्ध [व्यासेनापि भारत स्तंभे बद्धम्] (व्यास ने भी भारत को स्तम्भों में बनाया।) यहाँ पर व्यास का वास ही रह गया रेफादेश नहीं हुआ।

आपद्विपत्संपदां द इः ॥ ४०० ॥

अपभ्रंशे आपद् विपद् संपद् इत्येतेषां दकारस्य इकारो भवति। (अपभ्रंश में आपद् विपद् और संपद् शब्दों के दकार का इकार हो जाता है।)

यथा—अणउ करन्तहो पुरिसहो आवइ आवइ। [अनयं कुर्वतः पुरुषस्य आपद् आयत्ति। (अनीति करते हुए पुरुष के पास आपत्ति आती है।)

विवइ = विपद्। संपइ = संपद्। प्रायोऽधिकारात्। (ऊपर प्रथम सूत्र से प्रायः का अधिकार चला आ रहा है, उसी में यह भी सूत्र है। अतः कहीं पर 'इ' नहीं होगा।) यथा—गुणहिँ न संपय कित्ति पर [३३५।१] यहां 'संपइ' न होकर 'संपय' रह गया है।

कथं-यथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥ ४०१ ॥

अपभ्रंशे कथं यथा तथा इत्येतेषां थादेरवयवस्य प्रत्येकम् एम इम इह, इध इत्येते डितश्चत्वारः आदेशा भवन्ति ॥

(अपभ्रंश में कथं यथा-तथा इन प्रत्येक के 'था' को एम, इम, इह, इध ये चार डित् होकर आदेश होते हैं।) यह आदेश डित् होता है। (डित् होने का फल यह होता है कि डित्वात् भस्य टेर्लोपः (पाणिनीय व्याकरण) का नियम लगता है और प्रत्येक शब्द में बचे भाग के अन्त अवयव का लोप हो जाता है। यथा—कथं = केम; थ = एम, क में अ का लोप, क् + एम = केम।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदाहरण—केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव-वहु दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥ १ ॥

[कथं समाप्यतां दुष्टं दिनं कथं रात्रिः शीघ्रं (छुडु) भवति।
नववधूदर्शनलालसकः वहति मनोरथान् सोऽपि ॥ १ ॥]

(दुष्ट दिन कैसे समाप्त हो, रात कैसे शीघ्र आए, नववधू को देखने की इच्छा रखनेवाला वह भी मनोरथों को वहन करता है (ऐसा मनोरथ करता है)। थ को इम आदेश का उदाहरण—

ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियङ्कु।
अन्नु वि जो परिहविय तणु सो किवँ [किम] भवँइ निसङ्कु ॥ २ ॥

[ओ गोरी मुख निर्जितकः वार्दले निलीनः मृगाङ्कः।
अन्योऽपि यः परिभूततनुः स कथं भ्रमति निःशङ्कम् ॥ २ ॥]

(ऐ सुनो, गोरी के मुख से पराजित होकर चन्द्रमा बादल में छिप गया है। दूसरा कोई भी जो पराजय प्राप्त शरीरवाला होगा वह कैसे निःशङ्क भाव से घूम सकता है ?)

यहाँ कथं के स्थान में किवँ [किम] रूप बना है।

'इह' आदेश का उदाहरण—

बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम-रसु पिएं पिअवि जणु सेसहों दिण्णी मुद्द ॥ ३ ॥

[बिम्बाधरे तन्व्याः रदनव्रणः कथं स्थितः श्री आनन्द।
निरुपमरसं प्रियेण पीत्वेव शेषस्य दत्ता मुद्रा ॥ ३ ॥]

(तन्वी के बिम्बाधर पर रदनव्रण (दंत क्षत) कैसा सुशोभित हो रहा है, मानों प्रिय ने निरुपम रस पीकर अवशिष्ट पर मुद्रा (मुहर) दे दी है।)

यहाँ कथं = किह है। यथा के स्थान पर जेवँ = जेम का तथा के स्थान पर तेवँ = (तेम) के उदाहरण—

भण सहि निहुअउँ तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ ४ ॥

[भण सखि निभृतकं तथा मयि यदि प्रियः दृष्टः सदोषः।
यथा न जानाति मम मनः पक्षापतितं तस्य ॥ ४ ॥]

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(हे सखि, यदि मेरा प्रिय सदोष है तो मुझसे एकांत में ऐसा बता, जिससे उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके।)

इसी प्रकार यथा और तथा के स्थान पर जिवँ [जिम] और तिवँ [तिम] के उदाहरण हैं—

'जिवँ जिवँ वङ्किम लोअणहं', 'तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर [३४४।१]

थ = 'ह' का उदाहरण—

'मइँ जाणिउ प्रिय विरहिअहं क वि धर होइ विआलि।
नवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि॥ ५॥ [३७७।१]

एवं जिध तिधावुदाहार्यौ। (इसी प्रकार जिध, तिध का भी उदाहरण देना चाहिए।)

याद्दक्ताद्दकीद्दगीद्दशां दादेर्डेहः ॥ ४०२ ॥

अपभ्रंशे याद्दगादीनां दादेरवयस्य डित् एह इत्यादेशो भवति ॥

(अपभ्रंश में 'यादृक्' आदि शब्दों के 'द' इत्यादि को एह आदेश होता है जो डित् होता है।) (डित् एक संज्ञा है जिसके कारण उस शब्द के अवयव का लोप होता है) उदाहरणार्थं—

मइं भणिअउ बलिराय तुहुँ केहउ मग्गण एहु।
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइँ नारायणु एहु॥ १॥

[मया भणितः बलिराज त्वं कीद्दग् मार्गणः एषः।
याद्दक्ताद्दग् नापि भवति मूर्ख स्वयं नारायणः ईद्दक्॥ १॥]

(शुक्राचार्य कहते हैं—हे राजा बलि, मैंने कहा था कि किस प्रकार का मंगन यह है, जैसा-तैसा यह नहीं है, मूर्ख! यह स्वयं नारायण हैं)। यहाँ कीदृक् = केहउ, यादृक् = जेहु, तादृक् = तेहु ईदृक् = एहु बन गए हैं!

अतां डइसः ॥ ४०३ ॥

अपभ्रंशे याद्दगादीनामदन्तानां याद्दशताद्दशकीद्दशेद्दशानां दादेरवयवस्य डित् अइस इत्यादेशो भवति॥ (अपभ्रंश में यादृश, तादृश, कीदृश ईदृश जो अदन्त शब्द, इनके द तक के अवयव को अइस आदेश हो जाता है।) यादृशः = जइसो। तादृशः = तइसो। कीदृशः = कइसो। ईदृशः = अइसो॥ यहाँ याद्, ताद्, कीद और ईद् को क्रमशः जइ, तइ, कइ और अइ आदेश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्र तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु ॥ ४०४ ॥

अपभ्रंशे यत्र तत्र शब्दयोस्त्रस्य एत्थु अत्तु इत्येतौ डितौ भवतः ॥ (अपभ्रंश में यत्र तत्र शब्द के 'त्र' को एत्थु और अत्तु आदेश होते हैं, जो डित् होते हैं)। यत्र = जेत्थु, जत्तु। तत्र–तेत्थु, तत्तु।—यथा—

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥१॥

[यदि स घटयति प्रजापतिः कुत्रापि लात्वा शिक्षाम्।
तत्रापि तत्रापि अत्र जगति भण तदा तस्याः सदृक्षीम् ॥१॥]

(यदि वह प्रजापति कहीं से शिक्षा लेकर बनाता है तो जहाँ कही भी इस जगत् में उस रमणी के समान कौन है? बताओ। ऐसे ही जत्तु ठिदो =[यत्र स्थितः।] जहाँ स्थित। (तत्तु ठिदो =) [तत्र स्थितः।] (वहाँ स्थित।)

एत्थु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

अपभ्रंशे कुत्र अत्र इत्येतयोस्त्रशब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में कुत्र और अत्र शब्द के त्र को एत्थु आदेश होता है जो डित् कहलाता है।) उदाहरण—केत्थु विलेप्पिणु सिक्खु ॥ जेत्थु वि तेत्थु विएत्थु जगि ॥ [४०४।१]

यावत्तावतोर्वादेर्म उं मांह ॥ ४०६ ॥

अपभ्रंशे यावत्तावदित्यव्यययोर्वकारादेरवयवस्य म उं महिं इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में यावत् तावत् इन दोनों अव्ययों के वकारादि अवयव को म, उं और महिं ये तीन आदेश होते हैं।) यावत् – जाम का उदाहरण—

जाम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह–चवेड चडक्क।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥ १ ॥

[यावत् न निपतति कुम्भतटे सिंह चपेटाचटत्कारः।
तावत् समस्तानां मदकलानां (गजानां) पदे-पदे वाद्यते ढक्का ॥१॥].

(जब तक मदगज के गण्डस्थल पर सिंह के चपेटे का चटकार नहीं बजता तब तक सभी मदगजों के पग-पग पर ढोल बजता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उं का उदाहरण अर्थात् यावत् का जाउं और तावत् का ताउं का उदाहरण—

तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ ते ज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति ॥२॥

[तिलानां तिलत्वं तावत् परं यावत् न स्नेहाः गलन्ति।
स्नेहे प्रनष्टे ते एव तिलाः भ्रष्टा खलाः भवन्ति ॥२॥]

(तिलों का तिलत्व तभी तक है जब तक उनका तैल निकाला जाता; स्नेह (तेल) के निकल जाने पर तिल नष्ट होकर खली हो जाते हैं।) महि का उदाहरण अर्थात् यावत् के जामहिं और तावत् के तामहिं का उदाहरण—

जामहिँ विसमी कज्ज-गइ जीवहँ मज्झे एइ।
तामहिँ अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अन्तरु देइ ॥३॥

[यावद् विषमा कार्यगतिः जीवानां मध्ये आयाति।
तावदास्तामितरः जनः सुजनोऽप्यन्तरं ददाति ॥३॥]

(जब जीवों में विषम कार्य गति आती है तब साधारण जनों की तो बात ही क्या ? सुजन लोग भी भेद करते हैं।)

वा यत्तदोतोर्डेवडः ॥ ४०७॥

अपभ्रंशे यद् तत् इत्येतयोरत्वन्तयोर्यावत्तावतोर्वकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति॥ (अपभ्रंश में यद् तत् अययव वाले यावत् तावत् शब्दों के वकारादि अवयव को विकल्प से एवड आदेश होता है।) अर्थात् यावत्—जेवड, तावत्—तेवड। यथा—

जेवडु अन्तरु रावण-रामहँ तेवडु अन्तरु पट्टणगामहँ।
[यावदन्तरं रावणरामयोस्तावदन्तरं पत्तनग्रामयोः]

(जितना अन्तर रावण राम का है, उतना अन्तर पत्तन (नगर) और गाँव का है)। जहाँ पर जेवड, तेवड नहीं होगा वहाँ पक्षे, जेत्तुलो। तेत्तुलो, हो जाते हैं।

वेदं-किमोर्यादेः ॥ ४०८॥

अपभ्रंशे इदम् किम् इत्येतयोरत्वन्तयोरियत्कियतोर्यकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति॥ (अपभ्रंश में इयत् कियत् के यादि [य+

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि] अवयव को डित् एवड आदेश विकल्प से होता है। यथा—एवड्डु अन्तरु। [इयत् अन्तरम्] केवड्डु अन्तरु। [कियत् अन्तरम्] पच्चे ॥ (जहां वह वैकालिपक आदेश नहीं होगा वहां) एत्तुलो [इयत्] केत्तुलो [कियत्]।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

अपभ्रंशे परस्परस्यादिरकारो भवति ॥ (अपभ्रंश में परस्पर शब्द के आदि में अकार का आदेश होता है।) यथा—

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहं ॥१॥

[ते मुद्गाः हारिताः ये परिविष्टाः तेषाम्।
परस्परं युद्ध्यमानानां स्वामी पीडितः येषाम् ॥ १ ॥]

(वे मूंग नष्ट हो गए जो उन्हें परोसे गए जिन्होंने परस्पर युद्ध करके स्वामी को पीड़ित किया।) गंजिउ = पीड़ित। (गांजणे—मराठी।) (गुलेरी = जिन कायरों के इधर-उधर देखते देखते स्वामी मिट गया उन्हें मूंग-परोसना वृथा है, मूंग बरबाद करना है।)

कादि-स्थैदोतोरुच्चार-लाघवम् ॥ ४१० ॥

अपभ्रंशे कादिषु व्यञ्जनेषु स्थितयो ए ओ इत्येतयोरुच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति ॥ (अपभ्रंश में स्थित क आदि व्यंजनों में रहनेवाले ए और ओ का उच्चारण प्रायः लघु होता है।) यथा सुधेँ चिन्तिज्जइ माणु [३९६।२]" यहां सुधेँ में ए का उच्चारण लघु है। इसी प्रकार—तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहोँ [३३८।१] यहां दुल्लहहों में ओ का उच्चारण लघु है।

पदान्ते उं हुं हिं हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

अपभ्रंशे पदान्ते वर्तमानानां उं, हुं, हिं, हं इत्येतेषां उच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति। (अपभ्रंश में पदान्त में स्थित जो उं, हुं, हिं और हं उनके उच्चारण में प्रायः लाघव होता है।) यथा—

उं—(१) अन्नु जु तुच्छउँ तहेँ धणहे [३५०।१] ॥
(२) बलि किज्जउँ सुअणस्सु [३३८।१] ॥

हुँ—(१) दइउ घडावइ वणि तरुहुं [३४०।१]
(२) तरुहुँ वि वक्कलु [३४१।२],

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिं—(१) खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं [३८६।१].,
हं—(१) तणहँ तइज्जी भङ्गि न वि [३३९।१].,

म्हो म्भो वा ॥ ४१२ ॥

अपभ्रंशे म्ह इत्यस्य स्थाने म्भ इति मकाराक्रान्तो भकारो वा भवति ॥ (अपभ्रंश में 'म्ह' के स्थान पर 'म्भ' (मकाराक्रान्त भकार विकल्प से होता है।) म्ह इति पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः [२।७४] इति प्राकृतलक्षण-विहितोऽत्र गृह्यते। (प्राकृत व्याकरण के सूत्र [२।७४] के अनुसार बना 'म्ह' का ही सूत्र में ग्रहण किया गया है।) संस्कृते तदसंभवात् (क्योंकि संस्कृत में 'म्ह' रूप मिलना असंभव है।) गिम्ह—गिम्भो। सिम्ह—सिम्भो। इसी प्रकार—

बम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वङ्ग छइल्ल।
जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥ १ ॥
[ब्रह्मन् ते विरलाः केऽपि नराः ये सर्वाङ्गच्छेकाः।
ये वक्राः ते वञ्च (क) तराः ये ऋजवः ते बलीवर्दाः ॥ १ ॥]

(हे ब्रह्मन्, वे मनुष्य दुर्लभ हैं, जो सर्वाङ्गतः (सब प्रकार से) निपुण हैं, जो वक्र (बाँके) हैं वे वंचक हैं और जो सीधे हैं, वे बैल हैं।)

अन्यादृशोन्नाइसावराइसौ ॥४१३॥

अपभ्रंशे अन्यादृश शब्दस्य अन्नाइस अवराइस इत्यादेशौ भवतः ॥ (अपभ्रंश में अन्यादृश शब्द को अन्नाइस और अवराइस आदेश होते हैं।) यथा— अन्नाइसो। अवराइसो ॥

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ॥ ४१४ ॥

अपभ्रंशे प्रायस् इत्येतस्य प्राउ, प्राइव, प्राइम्व पग्गिम्व इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में प्रायस् शब्द के स्थान पर प्राउ, प्राइव, प्राइम्व और पग्गिम्व ये चार आदेश होते हैं।) यथा—प्राउ—

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअ-जुअलु।
अन्नु सु घण थण-हारु तं अन्नु जि मुह-कमलु ॥
अन्नु जि केस-कलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि।
जेण णिअम्बिणि घडिअ स गुण-लायण्ण-णिहि ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[अन्ये ते दीर्घे लोचने अन्यत् तद् भुजयुगलम् ।
अन्यः स घनस्तनभारः तदन्यदेव मुखकमलम् ॥
अन्य एव केशकलापः सः अन्य एव प्रायो विधिः ।
येन नितम्बिनी घटिता सा गुणलावण्यनिधिः ॥ १ ॥]

(वे बड़ी-बड़ी आँखें दूसरी ही हैं, वे दोनों भुजाएं कुछ और ही हैं, वह पृथुल स्तनभार कुछ और ही है; वह मुख कमल भी दूसरा ही है, वह केश-कलाप भी अन्य ही है, गुण और सौंदर्यनिधि-रूप उस नितम्बिनी को जिसने बनाया वह विधि भी अन्य ही है ॥१॥) [अन्य = विचित्र]

प्राइव—प्राइव मुणिहँ वि भन्तडी तें मणिअडा गणन्ति ।
अखइ निरामइ परमपइ अज्जविलउ न लहन्ति ॥ २ ॥
[प्रायोमुनीनामपि भ्रान्तिः ते मणीन् गणयन्ति ।
अक्षये निरामये परमपदे अद्यापि लयं न लभन्ते ॥ २ ॥]

(प्रायः मुनियों को भी भ्रांति है, वे मनका गिनते हैं, अक्षय निरामय परमपद में अब भी लय नहीं लगाते (तन्मय नहीं होते ।)

प्राइम्व—अंसु जलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर ।
तें संमुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥ ३ ॥
[अश्रुजलेन प्रायः गौर्याः सखि उद्वृत्ते नयनसरसी ।
ते संमुखे संप्रेषिते दत्तः तिर्यग् घातं परम् ॥ ३ ॥]

(हे सखि, गोरी की नयन-सरसी अश्रु-जल से प्रायः भरी रहती हैं, वे नयन जब किसी के सामने होते हैं तो तिरछी चोट करते हैं ।)

पग्गिम्व—एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥ ४ ॥
[एष्यति प्रियः रोषिष्यामि अहं रुष्टां मामनुनयति ।
प्रायः एतान् मनोरथान् दुष्करः दयितः कारयति ॥ ४ ॥]

(प्रिय आएगा, मैं रूठूंगी, रुठी हुई मुझे वह मनाएगा (अनुनय करेगा) ऐसे मनोरथ प्रायः दुष्कर पति कराता है ।) ॥ ४ ॥

वान्यथोऽनुः ॥ ४१५ ॥

अपभ्रंशे अन्यथा शब्दस्य अनु इत्यादेशो वा भवति ॥ (अपभ्रंश में अन्यथा शब्द को विकल्प से अनु आदेश होता है ।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरहाणल-जाल करालिअउ पहिउ को वि बुड्डिवि ठिअउ ।
अनु सिसिर कलि सीअल-जलहु धूमु कहन्तिहु उट्ठिअउ ।। १ ।।

[विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः कोऽपि मङ्क्त्वा स्थितः ।
अन्यथा शिशिरकाले शीतलजलात् धूमः कुतः उत्थितः ।। १ ।।]

(विरहाग्नि की ज्वाला से जला कोई पथिक जल में डूब कर स्थित है । अन्यथा इस शिशिरकाल में शीतल जल से धूम कैसे उठा ।) (शिशिर काल में जल से निकलते हुए बाष्प को देखकर कवि की यह कल्पना है ।) पक्षे । अन्नह । (जहां अनु आदेश नहीं होगा वहाँ 'अन्नह' रूप रहेगा ।)

कुतसः कउ कहन्तिहु ।। ४१६ ।।

अपभ्रंशे कुतस् शब्दस्य कउ कहन्तिहु इत्यादेशौ भवतः ।। (अपभ्रंश में कुतस् शब्द को 'कउ' और 'कहन्तिहु' आदेश होते हैं) यथा—

महु कन्तहे ँ गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउरुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ।। १ ।।

[मम कान्तस्य गोष्ठस्थितस्य कुतः कुटीरकाणि ज्वलन्ति ।
अथ रिपुरुधिरेण आर्द्रयति अथ आत्मना, न भ्रान्तिः ।। १ ।।]

(मेरे कंत के गोष्ठ में स्थित रहने पर झोपड़े कहाँ से जल रहे हैं ? या तो शत्रु के रक्त से उसे वह ठंडा कर देगा या अपने, इसमें कुछ भी भ्रांति नहीं है ।) यहाँ कुत: के स्थान पर 'कउ' आदेश हुआ है ।

कुत: के स्थान पर 'कहन्तिहु' आदेश का उदाहरण--धूमु कहन्तिहु उट्ठिअउ [४१५।१)

ततस्तदोस्तोः ।। ४१७ ।।

अपभ्रंशे ततस् तदा इत्येतयोस्तो इत्यादेशो भवति ।। (अपभ्रंश में 'ततस्' और 'तदा' शब्दों के स्थान पर 'तो' आदेश होता है ।)

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो ँ मारिअडेण ।। [३७९।२]

एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक् एम्व-पर-समाणु-ध्रुवु-मं-मणाउं ।। ४१८ ।।

अपभ्रंशे एवमादीनां एम्वादय आदेशा भवन्ति ।। (अपभ्रंश में एवं—आदि के स्थान पर एम्व आदि आदेश होते हैं ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवम एम्व ।—(एवम् को एम्व)

पिय-संगमि कउ निद्दडी पिअहों परोक्खहों केम्व ।
मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१॥

[प्रियसंगमे कथं निद्रा प्रियस्य परोक्षे कथम् ।
मया द्वे अपि विनासिते निद्रा नैवं न तथा ॥ १ ॥]

(प्रियतम में सङ्गम में निद्रा कैसी (और) प्रियतम के परोक्ष रहने पर निद्रा कैसी ? मैंने तो दोनों को समाप्त कर दिया । नींद न यों आ रही है और न त्यों [त्यों] ॥१॥)

परमः परः । (परं के स्थान में पर आदेश) 'गुणहि न संपइ, कित्ति पर' [३३५।१]

समम: समाणु: । (समम् के स्थान पर समाणु आदेश)

कन्तु जु सीहहों उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥ २ ॥

[कान्तः यत् सिंहेन उपमीयते तन्मम खण्डितः मानः ।
सिंहः नीरक्षकान् गजान् हन्ति प्रियः पदरक्षैः समम् ॥२।]

(मेरे कान्त की उपमा जो सिंह से दी जाती है तो मेरा अभिमान खण्डित हो जाता है । (क्योंकि) सिंह तो बिना रक्षक के हाथियों को मारता है पर प्रिय पदरक्षकों के साथ रहनेवालों को मारता है ।) ॥२॥

ध्रुवमो ध्रुवु: । (ध्रुवम् के स्थान पर ध्रुवु)

चञ्चलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं ।
होसहिँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस-सयाइं ॥ ३ ॥

[चञ्चलं जीवितं ध्रुवं मरणं प्रिय रुष्यते कथम् ।
भविष्यन्ति दिवसा रोषयुक्ताः (रूसणा) दिव्यानि वर्षशतानि ॥३॥]

(जीवन चंचल है, मरना ध्रुव है, हे प्रिय ! क्यों रूठा जाय । रूठने का एक-एक दिन सौ-सौ वर्षों के बराबर होगा ।) मो मं । (मा के स्थान पर 'मं') 'मं धणि करहि विसाउ' [३८५।१] प्रायोग्रहणात् । (सूत्र में 'प्रायः' शब्द ग्रहण किया गया है, तत्सामर्थ्यात्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जण-करपल्लवे हिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥ ४ ॥
लोणु विलिज्जइ पाणिऍण अरि खल मेह म गज्जु
वालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥ ५ ॥

[माने प्रनष्टे यदि न तनुः तत् देशं त्यजेः ।
मा दुर्जनकरपल्लवैः दर्श्यमानः भ्रमेः ॥ ४ ॥]

[लवणं विलीयते पानीयेन अरे खल मेघ मा गर्ज ।
ज्वालितं गलति तत्कुटीरकं गौरी तिम्यति अद्य ॥ ५ ॥]

(मान के नष्ट होने पर यदि शरीर नहीं नष्ट हुआ तो उस देश को ही छोड़ दे, पर दुर्जनों को करपल्लवों से दिखाया जाकर मत घूमे ॥४॥)

(लवण (गोरी का लावण्य) पानी में मिल रहा है, अरे खल मेघ, मत गरज, (धूप से) जलाया हुआ वह झोपड़ा गल रहा है और गोरी (भींज-) तीत रही है ॥५॥)

यहाँ कहीं 'मा' है और कहीं 'म' ही रह गया है। मनाको मणाउं ।
(मनाक् शब्द को 'मणाउं' आदेश होता है।)

विहवि पणट्ठइ वङ्कडउ रिद्धिहिँ जण-सामन्नु ।
किं पि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥ ६ ॥

[विभवे प्रनष्टे वक्रः ऋद्धौ जनसामान्यः ।
किमपि मनाक् मम प्रियस्य शशी अनुहरति नान्यः ॥ ६ ॥]

(विभव के प्रनष्ट होने पर बांका और ऋद्धि होने पर जन-सामान्य (होने वाला) चन्द्रमा ही मेरे प्रिय का कुछ अनुसरण करता है।) ॥ ६ ॥

किलाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं ॥४१९॥

अपभ्रंशे किलादीनां किरादय आदेशा भवन्ति । (अपभ्रंश में 'किल' आदि के स्थान पर 'किर' आदि आदेश होते हैं।) किलस्य किरः। (किल को किर)

किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेँण पहुच्चइ दूअडउ ॥१॥

[किल न खादति न पिबति न विद्रवति धर्मे न व्ययति रूपकम् ।
इह कृपणो न जानाति यथा यमस्य क्षणेन प्रभवति दूतः ॥१॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(न तो खाता है, न पीता है, न तो धर्म में ही रुपए खर्च करता है। जैसे (मानो) कृपण यह जानता ही नहीं कि यम का दूत क्षण भर में ही आ पहुँचेगा।) ॥ १ ॥

अथवोऽहवइ। (अथवा को अहवइ आदेश होता है) अहवइ न सुवंसहं एह खोडि' [अथवा न सुवंशानामेष दोषः] (अथवा सुवंशो का यह दोष नहीं है।) प्रायोधिकारात्। (सूत्र में 'प्रायः' का अधिकार आएगा, अतः कहीं यह 'अहवइ' आदेश होगा, कहीं नहीं।) यथा--

जाइज्जइ तहिँ देसडइ लब्भइ पियहो॑ पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निवाणु ॥ २ ॥

[यायते (गम्यते) तस्मिन् देशे लभ्यते प्रियस्य प्रमाणम्।
यदि आगच्छति तदा आनीयते अथवा तत्रैव निर्वाणम् ॥ २ ॥]

(उस देश में चला जाय जहाँ प्रिय का प्रमाण (पता) मिले, यदि आता है तो लाया जाय अथवा (नहीं आता है तो) वहीं पर निर्वाण प्राप्त कर लिया जाय—मर जाया जाय) ॥ २ ॥

दिवो दिवे। (दिवः के स्थान पर 'दिवे॑' आदेश होता है।)

(दिवे॑ दिवे॑) दिवि दिवि गङ्गा ण्हाणु [३९९।१]

सहस्य सहुं। (सह को सहुं होता है।)

जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्ते॑हिँ सुहय जणस्सु ॥ ३ ॥

[यत्प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य।
लज्ज्यते संदेशान् ददतीभिः (अस्माभिः) सुभगजनस्य ॥ ३ ॥]

(यदि प्रवास करते हुए (प्रिय) के साथ न गईं और न उसके वियोग के कारण मरीं तो (उस) सुभग जन को संदेश देती हुई हम लजाती हैं) ॥ ३ ॥

नहेर्नाहिं। (नहि को नाहिं आदेश होता है)

एत्तहे॑ मेह पिअन्ति जलु एत्तहे॑ वडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ ॥४॥

[इतः मेघाः पिबन्ति जलं इतः वडवानलः आवर्तते।
प्रेक्षस्व गभीरिमाणं सागरस्य एकापि कणिका नहि अपभ्रश्यते ॥४॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(इधर से मेघ जल पी रहे हैं, इधर (इधर) से वडवानल औंट रहा है, सागर की गंभीरता को देखो, एक कणिका भी उसमें कम नहीं होती ।) ॥४॥

पश्चादेवमेवैवेदानीं—प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

अपभ्रंशे पश्चादादीनां पच्छइ इत्यादय आदेशा भवन्ति ॥

(अपभ्रंश में पश्चात् आदि शब्दों के स्थान में पच्छइ इत्यादि आदेश होते हैं।) पश्चात्—पच्छइ। (पश्चात् को पच्छइ), यथा—"पच्छइ होइ विहाणु' [३६२।१]।

एवमेवस्य एम्वइ। (एवमेव को एम्वइ आदेश होता है।) यथा—'एम्वइ सुरउ समत्तु' [३३२।२] एवस्य जिः। (एव को जि आदेश होता है।) यथा—

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्बरइँ करेइ ॥ १ ॥
[यातु, मा यान्तं पल्लवत, द्रक्ष्यामि कति पदानि ददाति।
हृदये तिरश्चीना अहमेव परं प्रियः आडम्बराणि करोति ॥ १ ॥]

(वह प्रिय जाए, जाते हुए उसको मत रोको, देखती हूँ कितने पैर आगे डालता है, उसके हृदय में तो मैं ही टेढ़ी होकर (गड़ी) हूँ, जाने का वह केवल आडम्बर करता है।)

इदानीम एम्वहिं। (इदानीम् को एम्वहिं आदेश होता है।)

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहि राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥ २ ॥

[हरिः नर्तितः प्राङ्गणे विस्मये पातितः लोकः।
इदानीं राधापयोधरयोः यत् (प्रति) भाति तद् भवतु ॥ २ ॥]

(हरि प्राङ्गण में नचाया गया, लोक आश्चर्य में डाला गया, इस समय उन राधा के पयोधरों को जो भाए वही हो।)

प्रत्युतस्य पच्चलिउ। (प्रत्युत को पच्चलिउ आदेश होता है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साव-सलोणी गोरडी नवखी क वि विस गण्ठि।
भड्डु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥ ३ ॥

[सर्वसलावण्या गौरी नवा कापि विषग्रन्थिः।
भटः प्रयुत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठे ॥ ३ ॥]

(सब अङ्गों से सुन्दरी वह जैसे कोई नई विष की गाँठ हो (पर आश्चर्य है कि) जिसके कण्ठ से वह नहीं लगती वही भट मरता है—पीडित होता है) ॥३॥

इतस एत्तहे। (इतः को एत्तहे आदेश होता है।) 'एत्तहे' मेह पिअन्ति जलु' [४१६।४]

विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चं ॥ ४२१ ॥

अपभ्रंशे विषण्णादीनां वुन्नादय आदेशा भवन्ति॥ (अपभ्रंश में विषण्ण आदि शब्दों को वुन्न आदि आदेश होते हैं।) विषण्णस्य वुन्नः। (विषण्ण को वुन्न आदेश होता है।)

मइँ वुत्तउं तुहुँ धुरु धरहि कसरेहिं विगुत्ताइं।
पइँ विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं॥ १ ॥

[मया उक्तं, त्वं धुरं धर, गलिवृषभैः (कसर) विनाटिताः।
त्वया विना धवल नारोहति भर, इदानीं विषण्णः किम्। १ ॥]

(मैंने कहा, तू धुरा को धारण कर। मंद (गरियार) बैलों से हम पीड़ित हैं, हे धवल तेरे बिना यह बोझ नहीं चल सकेगा, तू विषण्ण (खेद युक्त) क्यों है ?)

उक्तस्यवुत्तः। (उक्त के स्थान पर वुत्त आदेश होता है)। यथा—मइं वुत्तउं [४२१।१]॥ वर्त्मनो विच्चः। (वर्त्मन् को विच्च आदेश हो जाता है।] यथा—जं मणु विच्चि न माइ [३५०।१]

शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥ ४२२ ॥

अपभ्रंशे शीघ्रादीनां वहिल्लादय आदेशा भवन्ति।

(अपभ्रंश में शीघ्रादि शब्दों को 'वहिल्ल' आदि आदेश होते हैं।) शीघ्र को वहिल्ल—

एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउ पइँ जेहउ खलु नाहिं। १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[एकं कदापि नागच्छसि अन्यत् शीघ्रं यासि ।
मया मित्र प्रमाणितः त्वया यादृशः (त्वं यथा) खलः न हि ॥१॥]

(एक तो कभी आते नहीं, दूसरे (आये भी तो) शीघ्र ही जा रहे हो, हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया है कि तू जैसा है वैसा खल भी नहीं है ।१।) झकटस्य घङ्घलः । (झकट को 'घङ्घल' आदेश होता है ।)

जिवँ सुपुरिस तिवँ घङ्घलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ।
जिवँ डोङ्गर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ॥२॥

[यथा सत्पुरुषाः तथा कलहाः यथा नद्यः तथा वलनानि ।
यथा पर्वताः तथा कोटराणि हृदय खिद्यसे किम् । २॥]

(जैसे सत्पुरुष हैं वैसे ही झगड़े भी, जैसी नदियाँ हैं वैसे ही नदियों का घुमाव भी, जैसे पर्वत हैं वैसी ही कन्दराएँ भी हैं, (तो फिर) हे हृदय, तुम खेद क्या कर रहे हो ? ॥२॥)

अस्पृश्यसंसर्गस्य विट्टालः । (अस्पृश्यसंसर्ग के स्थान पर 'विट्टाल' आदेश होता है ।)

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लन्ति ।
तहं सङ्खहं विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥ ३ ॥

[ये मुक्त्वा रत्ननिधिं आत्मानं तटे क्षिपन्ति ।
तेषां शङ्खानां संसर्गः केवलं फूत्क्रियमाणाः भ्रमन्ति ॥ ३ ॥]

(जो रत्ननिधि (समुद्र) को छोड़ कर अपने को तट पर फेंक देते हैं, उन शंखों का अस्पृश्यसंसर्ग होता है और फूंके जाते हुए इधर उधर घूमते हैं ॥३॥)

भयस्य द्रवक्कः । (भय के स्थान पर 'द्रवक्क' होता है)—

दिवेंहिँ विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु ।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥ ४ ॥

[दिवसैः अर्जितं खाद मूर्ख संचिनु मा एकमपि द्रम्मम् ।
किमपि भयं तत् पतति येन समाप्यते जन्म ॥ ४ ॥]

(हे मूर्ख, अनेक दिनों से (में) जो संचित किया है उसे खा, एक भी दाम (छदाम) सँच कर मत रख, कोई ऐसा भय पड़ेगा जिससे जीवन ही समाप्त ह जायगा ॥ ४ ॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मीयस्य अप्पणः (आत्मीय को अप्पण आदेश होता है ।) फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं । [३६७।२] ॥

दृष्टेर्द्रेहिः । (दृष्टि को 'द्रेहि' आदेश होता है ।)—

एकमेक्कउं जइ वि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण
तो वि द्रेहि जहिं कहिं वि राही ।
को सक्कइ संवरेवि दड्ढ नयणा नेहिं पलुट्टा ॥ ५ ॥
[एकैकं यद्यपि पश्यति हरिः सुष्ठु सर्वादरेण ।
तथापि दृष्टिः यत्र क्वापि राधा ।
कः शक्नोति संवरीतुं नयने स्नेहेन पर्यस्ते ॥ ५ ॥]

(श्री कृष्ण अलग अलग से यद्यपि प्रत्येक गोपिका का बहुत आदर करते हैं पर दृष्टि जहाँ कहीं भी राधा पर ही रहती है (राधा को विशेष मानते हैं) । स्नेह से पूर्ण नयनों को कौन रोक सकता है ? ॥ ५ ॥)

गाढस्य निच्चट्टः । (गाढ को 'निच्चट्ट' आदेश होता है ।)

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥ ६ ॥
[विभवे कस्य स्थिरत्वं यौवने कस्य गर्वः ।
स लेखः प्रस्थाप्यते यः लगति गाढम् ॥ ६ ॥]

(विभव में स्थिरता किसकी, यौवन में गर्व किसका (विभव में स्थिरता नहीं, यौवन का गर्व नहीं) तो वह लेख भेजा जा रहा है जो गाढ़ रूप से लगे ॥ ६ ॥)

साधारणस्य सड्ढलः । (साधारण के स्थान पर सड्ढल आदेश होता है ।)

कहिँ ससहरु कहिँ मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु ।
दूर ठिआहँ वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥ ७ ॥

[कुत्र शशधरः कुत्र मकरधरः कुत्र बर्ही कुत्र मेघः ।
दूरस्थितानामपि सज्जनानां भवति असाधारणः स्नेहः ॥ ७ ॥]

(कहाँ चन्द्रमा और कहाँ समुद्र, (दोनों में महान् अन्तर है ।) कहाँ मयूर हैं, कहाँ मेघ, (सत्य है) दूर रहनेवाले सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है ॥ ७ ॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौतुकस्य कोड्डः । (कौतुक को कोड्ड या 'कुड्ड' आदेश होता है ।)

कुञ्जरु अन्नहँ तरुअरहं कुड्डेँण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिँ सल्लइहिँ जइ पुच्छह परमत्थु ॥ ८ ॥

[कुञ्जरः अन्येषु तरुवरेषु कौतुकेन घर्षति हस्तम् ।
मनः पुनः एकस्यां सल्लक्यां यदि पृच्छथ परमार्थम् ॥ ८ ॥]

(कुञ्जर अन्य तरुवरों पर कौतुक से (खेल के लिये) अपना हस्त (सूंढ) रगड़ता है । परमार्थ पूछो तो (सच पूछो तो) उसका मन तो एक सल्लकी के तरु में ही लगा रहता है ॥ ८ ॥)

क्रीडायः खेड्डः । (क्रीडा को खेड्ड आदेश होता है ।)

खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयम्पह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥ ९ ॥

[क्रीडा कृता अस्माभिः निश्चयं किं प्रजल्पत ।
अनुरक्ताः भक्ताः अस्मान् मा त्यज स्वामिन् ॥ ९ ॥]

(हम लोगों ने खेल किया, निश्चय क्या है सो कहिए, हे स्वामिन्, हम अनुरक्त जनों को—अपने भक्तों को मत छोड़िए ॥ ९ ॥)

रम्यस्य रवण्णः (रम्य को रवण्ण आदेश होता है ।)—

सरिहिँ न सरेहिँ न सरवरेँहि न वि उज्जाण वणेहिं ।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेँहिँ सुअणेहिं ॥ १० ॥

[सरिद्भिः न सरोभिः न सरोवरैः नापि उद्यानवनैः ।
देशाः रम्याः भवन्ति मूर्ख निवसद्भिः सुजनैः ॥ १० ॥]

(रे मूर्ख, सरिताओं से न सरों से, न तो उद्यान और वनों से ही देश रमणीक होते हैं (अपितु) सुजनों के निवास से (देश रम्य) होते हैं ॥१०॥)

अद्भुतस्य ढक्करिः (अद्भुत को ढक्करि आदेश होता है ।)

हिअडा पइं एँहु वोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार ।
फुट्टिसु पिएँ पवसन्ति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥ ११ ॥

[हृदय त्वया एतदुक्तं मम अग्रतः शतवारम् ।
स्फुटिष्यामि प्रियेण प्रवसता (सह) अहं भण्ड अद्भुतसार ॥११॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(हृदय ! तू ने मेरे आगे सैकड़ों बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फूट जाऊँगा, रे भाण्ड, रे अद्भुत सार !! ११ ॥)

हे सखीत्यस्य हेल्लिः ('हे सखि' को 'हेल्लि' आदेश होता है।) हेल्लि म झङ्खहि आलु [३७९।१]

पृथक्पृथगित्यस्य जुअंजुअः। ('पृथक्-पृथक्' को जुअंजुअ आदेश होता है।)

एक्क कुडुल्ली पञ्चहिँ रुद्धी तहँ पञ्चहँ वि जुअंजुअ बुद्धी।
बहिणुएँ तं घरु कहि किँव नन्दउ जेत्थु कुटुम्बउँ अप्पण छन्दउँ ॥१२॥

[एका कुटी पञ्चभिः रुद्धा तेषां पञ्चानामपि पृथक् पृथक् बुद्धिः।
भगिनि तद् गृहं कथय कथं वन्दतु यत्र कुटुम्बं आत्मछन्दकम् ॥ १२ ॥]

(एक (शरीररूपी) कुटी है, (वह भी) पाँच (इन्द्रियों) के द्वारा रुद्ध (अधिकृत) है, उन पाँचों की भी अलग-अलग मति है, तो हे बहिनि, बता कैसे वह गृह सानन्द रहेगा जहाँ कुटुम्ब अपनी इच्छा से चलने वाला है ॥१२॥)

मूढस्य नालिअ-वढौ (मूढ को 'नालिअ' और 'वढ' दो आदेश होते हैं।) मूढ = नालिअ का उदाहरण—

जो पुणु मणि जि खसफसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रुअउ।
रइ-वस-भमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥१३॥

[यः पुनः मनस्येव व्याकुलीभूतः चिन्तयति ददाति न द्रम्मं न रूपकम्।
रतिवशभ्रमणशीलः कराग्रोल्लालितं गृहे एव कुन्तं गणय त स मूढः ।१३।]

(जो मन में ही व्याकुल होकर चिन्ता करता है पर एक भी दाम या रुपया देता नहीं, ऐसा रति के वश भ्रमणशील तथा घर में ही भाला को हाथ में लेकर अंगुलियों से उसे (भाले को) नचानेवाला [व्यक्ति] मूर्ख है।) मूढः = वढ—देवेँहिँ विढत्तउँ खाहि वढ [४२२।४] ॥ नवस्य नवखः ॥ (नव को नवख आदेश होता है।)-नवखी क वि विसगण्ठि [४२०।३]

अवस्कन्दस्य दडवडः ॥ (अवस्कन्द के स्थान पर दडवड आदेश होता है।)

चलेँहिँ चलन्तेँहिँ लोअणेँहिँ जे तइँ दिट्ठा बालि।
तहिँ मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि। १४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[चलाभ्यां वलमानाभ्यां लोचनाभ्यां ये त्वया दृष्टाः बाले।
तेषु मकरध्वजावस्कन्दः पतति अपूर्णे काले ॥ १४ ॥]

(हे बाले, जो तुम्हारे घूमने वाले चंचल नेत्रों के द्वारा देखे गए (जाते हैं) (कि) उन पर असमय ही मकरध्वज (कामदेव) का आक्रमण हो जाता है ॥१४॥)

यदेश्छुडुः। (यदि के स्थान पर छुडु होता है।)—छुडु अग्घइ ववसाउ [३८५।१]॥

सम्बन्धिनः केरतणौ। (सम्बन्धी के स्थान पर 'केर' और 'तण' आदेश होते हैं।) केर का उदाहरण—

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइँ हरिणाइं।
जसु केरएँ हुँकारडएं मुहहुँ पडन्ति तृणाइं ॥ १५ ॥

[गतः स केसरी पिबत जलं निश्चितं हरिणाः।
यस्य संबन्धिना हुंकारेण मुखेभ्यः पतन्ति तृणानि ॥ १५ ॥]

(हे हरिणो, जिसके हुंकार से मुखों से तृण गिर पड़ते थे, वह केसरी (सिंह) चला गया, अब निश्चित रूप से (अच्छी तरह से) जल पीओ ॥१५॥)

तण का उदाहरण—अह भग्गा अम्हहं तणा [३७९।२]॥

मा भैषीरित्यस्य मब्भीसेति स्त्रीलिङ्गम्। ('मा भैषीः' के स्थान पर 'मब्भीसा' यह स्त्रीलिंग आदेश होता है)

सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ।
आदन्नहँ मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥ १६ ॥

[स्वस्थावस्थानामालपनं सर्वोऽपि लोकः करोति।
आर्तानां मा भैषीः इति यः सुजनः स ददाति ॥ १६ ॥]

(स्वस्थावस्थावालों के साथ आलपन (वार्तालाप) तो सभी करते हैं पर आर्त्तों को (पीड़ित लोगों को) 'मा भैषीः' (मत डरो का) (अभयदान) जो सज्जन है, वही देता है। ॥ १६ ॥) यहाँ 'मब्भीसा' के स्त्रीलिंग होने के कारण उसमें स्वार्थक डी प्रत्यय लग गया है और 'मब्भीसडी' बना है ॥

यद्यद्दृष्टं तत्तदित्यस्य जाइट्ठिआ। (यद् यद् दृष्टं तत् तद् के स्थान पर 'जाइट्ठिआ' आदेश होता है)—

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥ १७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[यदि रज्यसे यद्यद् दृष्टं तस्मिन हृदय मुग्धस्वभाव ।
लोहेन स्फुटता यथा घनः (तापः) सहिष्यते तावत् ॥ १७ ॥]

(हे मुग्ध स्वभाव वाले हृदय, जिसे-जिसे देखते हो उस-उस पर अनुरक्त हो जाते हो तो फूटने वाले लोहे के समान कठोर ताप सहो ॥१७॥)

हुहुरु-घुग्घादयः शब्दचेष्टानुकरणयोः ॥ ४२३ ॥

(अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः॥) (अपभ्रंश में 'हुहुरु' आदि शब्दानुकरण के लिए तथा 'घुग्घु' आदि चेष्टानुकरणे के लिए यथासंख्य (क्रमशः) आदेश होते हैं।)—हुहुरु = शब्दानुकरण के लिए—

मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्मद्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पियनाव झड त्ति ॥ १ ॥
[मया ज्ञातं मंक्ष्यामि अहं प्रेमह्रदे हुहुरुशब्दं कृत्वा ।
केवलं अचिन्तता संपतिता विप्रयनौः झटिति ॥ १ ॥]

(मैंने समझा था कि प्रेमह्रद में हुहुरुशब्द करके मैं डूब जाऊँगी पर बिना सोचे ही (अचानक) वियोग की नौका प्राप्त हो गई ॥ १ ॥)

आदि ग्रहणात् । (सूत्र में हुहुरु के बाद आदि शब्द का ग्रहण किया गया है। तत्सामर्थ्यात्)

खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठें नयणेहि ॥ २ ॥ इत्यादि ।
[खाद्यते न कसरत्कशब्दं कृत्वा, पीयते न घुट् शब्दं कृत्वा ।
एवमपि भवति सुखासिका प्रिये दृष्टे नयनाभ्याम् ॥ २ ॥]

(न तो कसर-कसर करके खाया जाता है, न घूँटों से पीया जाता है। योंही सुख की स्थिति रहती है, आँखों से प्रिय के देखे जाने पर ॥ २ ॥) आदि ग्रहण के कारण 'कसरक्क' भी शब्दानुकरण के लिए आदेश हुआ है। घुग्घु = चेष्टानुकरण—

अज्ज वि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेँहिं मक्कड घुग्घिउ देइ ॥ ३ ॥
[अद्यापि नाथः ममैव गृहे सिद्धार्थान् वन्दते ।
तावदेव विरहः गवाक्षेषु मर्कटचेष्टां ददाति ॥ ३ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अभी नाथ मेरे ही घर सिद्धार्थ (जैन मूर्ति) की वन्दना करते हैं। (बाहर जाने के लिए)। इतने में ही विरह झरोखे पर वंदरघुड़की दे रहा है।) आदिग्रहणात्। (सूत्र में 'घुग्घु' के बाद आदि शब्द का ग्रहण किया है अतः तत्सामर्थ्यात्)

सिरि जर-खण्डी लोअडी गलि मणिअडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा करा विआ मुद्धएँ उट्ठ-बईस ॥ ४ ॥ इत्यादि।

[शिरसि जराखण्डिता लोमपटी (कम्बलं) गले मणयः न विंशतिः।
तथापि गोष्ठस्थाः कारिताः मुग्धया उत्थापनोपवेशनम् ॥ ४ ॥]

(शिर पर फटी पुरानी कमली की टुकड़ी भी नहीं है, गले में बीस मनियाँ भी नहीं तो भी मुग्धा ने गोष्ठी में बैठे लोगों को उठक बैठक करा दिया।) ॥ ४ ॥

घइमादयोऽनर्थकाः ॥ ४२४ ॥

अपभ्रंशे घइमित्यादयो निपाता अनर्थकाः प्रयुज्यन्ते।
(अपभ्रंश में 'घइं' इत्यादि अनर्थक शब्दों का निपात होता है।)

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो॑ कालि ॥१॥

[अम्ब पश्चात्तापः प्रियः कलहायितः विकाले।
(नूनं) विपरीता बुद्धिः भवति विनाशस्य काले ॥१॥]

(री अम्मा, पश्चात्ताप हो रहा है कि प्रिय से विकाल में (सायं समय) झगड़ा हुआ, निश्चय ही विनाश काल में विपरीत बुद्धि होती है।) ॥१॥ आदिग्रहणात् खाइं इत्यादयः। (सूत्र में 'घइम्' के बाद 'आदि' ग्रहण किया गया है तत्सामर्थ्यात् 'खाइं' इत्यादि भी होंगे।)

तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः ॥४२५॥

अपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये केहिं, तेहिं, रेसि, रेसिं, तणेण इत्येते पञ्च निपाताः प्रयोक्तव्याः॥ (अपभ्रंश में तादर्थ्य (चतुर्थ्यर्थ) जहाँ पर कहना हो वहाँ केहिं, तेहिं, रेसि, रेसिं और तणेण ये—पाँच निपात होते हैं।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिँ देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि।
[विट एष परिहासः अयि भण कस्मिन् देशे।
अहं क्षीणा तव कृते प्रिय त्वं पुनः अन्यस्याः कृते ॥१॥]

(हे दूल्हा, बताओ यह परिहास किस देश में (होता है।) हे प्रिय, मैं तुम्हारे लिए क्षीण होती हूँ और तुम किसी दूसरी के लिए (क्षीण होते हो) ॥१॥)

एवं तेहिं रेसिमावुदाहार्यौ। (इसी प्रकार तेहिं और 'रेसिं' के उदाहरण देने चाहिए।) ('तेहिं पिअ' और 'अन्नहिं रेसिं')

'तणेण' का उदाहरण—वड्डत्तणहो तणेण ॥ [३६६।१]

पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥ ४२६ ॥

अपभ्रंशे पुनर्विना इत्येताभ्यां परः स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवति ॥ (अपभ्रंश में पुनः और विना शब्द से परे स्वार्थ में डु प्रत्यय होता है।) यथा—

सुमरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ।
जहिँ पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइँ नाउँ ॥१॥

[स्मर्यते तद् वल्लभं यद् विस्मर्यते मनाक्।
यस्य पुनः स्मरणं जातं गतं तस्य स्नेहस्य किं नाम ॥१॥]

(उस वल्लभ का स्मरण किया जाता है जो थोड़ा भूलता है पर जिसने स्मरण करना ही छोड़ दिया उसके प्रेम का क्या कहना (वह प्रेम क्या करेगा ?) ॥१॥

विना + डु का उदाहरण विणु जुज्झें न वलाहुं ॥ [३८६।१]

अवश्यमो डें-डौ ॥४२७॥

अपभ्रंशे ऽवश्यमः स्वार्थे डें ड इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ (अपभ्रंश में 'अवश्यम्' से स्वार्थ में 'डें' और 'ड' प्रत्यय होते हैं।) 'डें' का उदाहरण—

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइं।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिँ पण्णइं ॥ १ ॥

[जिह्वेन्द्रियं नायकं वशे कुरुत यस्य अधीनानि अन्यानि।
मूले विनष्टे तुम्बिन्याः अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥ १ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(जिह्वेन्द्रिय जो सब में प्रधान है, उसे वश में करो जिसके अधीन सभी अन्य इन्द्रियां हैं, मूल के नष्ट हो जाने पर तुम्बिनी के पत्ते अवश्य सूख जाते हैं ॥ १ ॥)

'ड' प्रत्यय का उदाहरण--'अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिं । [३७६।२]

एकशसो डिः ॥ ४२८ ॥

अपभ्रंशे एकशश्शब्दात् स्वार्थे डि र्भवति ॥ (अपभ्रंश में एकशः शब्द से स्वार्थं में 'डि' प्रत्यय होता है ।) यथा--

एक्कसि सील-कलंकिअइं देज्जहिँ पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥ १ ॥

[एकशः शीलकलङ्कितानां दीयन्ते प्रायश्चित्तानि ।
यः पुनः खण्डयति अनुदिवसं तस्य प्रायश्चित्तेन किम् ॥ १ ॥]

(शील कलंकित करने वालों को एक बार प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। जो प्रत्येक दिन खण्डित करता है उसे प्रायश्चित्त से क्या ?) ॥ १ ॥

अ-डड-डुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४२९ ॥

अपभ्रंशे नाम्नः परतः स्वार्थे अ, डड, डुल्ल इत्येते त्रयः प्रत्ययाः भवन्ति तत्संनियोगे स्वार्थे क प्रत्ययस्य लोपश्च ॥ (अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों से परे स्वार्थ में अ, डड डुल्ल ये तीन प्रत्यय होते हैं, उनके संनियोग होने से स्वार्थं में क प्रत्यय का लोप भी होता है ।) यथा—अ प्रत्यय का उदाहरण —

विरहाणलजाल-करालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिँ पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥ १ ॥

[विरहानल-ज्वाला-करालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।
तद् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कृतः अग्निष्ठः ॥ १ ॥]

(विरहानल की ज्वाला से जला जो पथिक दिखाई पड़ा कि सभी पथिकों ने मिलकर उसी को अग्निष्ठ (आग में स्थित = जला दिया) कर दिया ।) डड प्रत्यय का उदाहरण–महु कन्तहों बे दोसडा [३७९।१]

डुल्ल प्रत्यय का उदाहरण—एक कुडुल्ली पञ्चहिँ रुद्धो [४२२।१२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगजाश्चैषाम् ॥ ४३० ॥

अपभ्रंशे अ डडडुल्लानां योगभेदेभ्यो ये जायन्ते डडअ इत्यादयः प्रत्ययास्तेऽपि स्वार्थे प्रायो भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में अडडडुल्ल में योग विभाग करने पर डडअ आदि जितने प्रत्यय होंगे वे भी स्वार्थ में होते हैं ।) डडअ-फोडेंन्ति जे हिअडउं अप्पणउं [३५०।२] अत्र किसलय [१।२६९] इत्यादिना यलुक् । यहाँ १।२६९ सूत्र से 'य' का लोप हुआ है ।

डुल्लअ—चूड्डल्लउ चुन्नी होइसइ [३९५।२]॥

डुल्लडड —

सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा संधिहिँ वासु ।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥ १ ॥

[स्वामि प्रसादं सलज्जं प्रियं सीमासन्धौ वासम् ।
प्रेक्ष्य बाहुबलं धन्या मुञ्चति निःश्वासम् ॥ १ ॥]

(सीमासन्धि (वयः सन्धि) में रहना स्वामी का प्रिय प्रसाद है । (इस प्रसाद को प्राप्त कर) धन्या लज्जा के साथ प्रिय के भुजबल को स्मरण कर निःश्वास छोड़ती है।) ॥ १ ॥

अत्रामि स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ [४।३३०] इति दीर्घः । (यहाँ 'सामि' में सामी न होकर [४।३३०] सूत्र से दीर्घ का ह्रस्व हो गया है ।)

एवं बाहुबलुल्लडउ । अत्र त्रयाणां योगः । (इसी प्रकार बाहुबलुल्लडउ भी बनता है । यहाँ पर तीनों प्रत्ययों का योग है ।)

स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥ ४३१ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्राक्तनसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्तेभ्यो डीः प्रत्ययो भवति ॥ (अपभ्रंश में वर्तमान पूर्वोक्त दो सूत्रों में कहे गए प्रत्यायन्त वाले शब्दों में डी प्रत्यय लगता है ।) यथा—

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसूसासेॅहिँ कञ्चुआ तिंतुव्वाण करन्त ॥ १ ॥

[पथिक दृष्टा गौरी ? दृष्टा मार्गमवलोकयन्ती ।
अश्रूच्छ्वासैः कञ्चुकं तिमितोद्वानं (आर्द्रशुष्कं) कुर्वती ॥ १ ॥]

५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

("हे पथिक, गोरी तुम्हारे द्वारा देखी गई ?" मार्ग देखती हुई और आँसुओं तथा उच्छ्वासों से कञ्चुक को गीला करती और सुखाती हुई देखी गई ॥ १ ॥) इसी प्रकार—एक्क कुडुल्ली पञ्चहिँ रुद्धी [४२२।१२]

आन्तान्ताड्डाः ॥ ४३२ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययान्तप्रत्ययान्तात् डा प्रयत्यो भवति । ड्यपवादः । (अपभ्रंश में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अप्रत्ययान्त या प्रत्ययान्त से डा प्रत्यय होता है । यह डी का अपवादक है ।) यथा--

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥१॥

[प्रियः आयातः, श्रुता वार्ता, ध्वनिः कर्णे प्रविष्टः ।
तस्य विरहस्य नश्यतः धूलिरपि न दृष्टा ॥ १ ॥]

('प्रिय आया', यह वार्ता सुनी, ध्वनि कान में प्रविष्ट हुई, उसके नष्ट होते हुए विरह की धूल भी न देखी गई ॥ १ ॥)

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योकारस्तस्य आकारे प्रत्यये परे इकारो भवति ॥ (अपभ्रंश में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान जो संज्ञाशब्दों का अकार उसको आकार प्रत्यय परे रहते इकार होता है ।) यथा--धूलडिआ वि न दिट्ठ [४३२।१] स्त्रियामित्येव । स्त्रीलिङ्ग में ही यह इकार होता है—झुणि कन्नडइ पइट्ठ [४३२।१] कन्नडइ में स्त्रीलिंग न होने के कारण कन्नडिइ या 'कन्नडिअ' नहीं हुआ ।

युष्मदादेरीयस्य ॥ ४३४ ॥

अपभ्रंशे युष्मदादिभ्यः परस्य ईयप्रत्ययस्य डार इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में युष्मद् आदि शब्दों से परे ईय प्रत्यय को डार आदेश होता है ।) यथा—

संदेसें काइँ तुहारेण जं सङ्गहो न मिलिज्जइ ।
सुइणन्तरि पिएँ पाणिएँण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥ १ ॥

[संदेशेन किं युष्मदीयेन यत्संगाय न मिल्यते ।
स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन प्रिय पिपासा किं छिद्यते ॥ १ ॥]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आपके संदेश से क्या जब आपका संग नहीं मिलता। हे प्रिय, सपनों के पिये जल से क्या प्यास मिट सकती है ?) अस्मद् शब्द से— दिक्खि अम्हारा कन्तु [३४५।१] इसी प्रकार बहिणि महारा कन्तु [३५१।१]।।

अतोर्डेत्तुलः ।। ४३५ ।।

अपभ्रंशे इदं किंयत्तदेतद्भ्यःपरस्य अतोःप्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशो भवति।। (अपभ्रंश में इदं, किं, यत्, तत्, एतत् इनसे परे अतुस् प्रत्यय को (पंचमी एकवचन में) डेत्तुल आदेश होता है।) इदम्— एत्तुलो। [अतः] किम्— केत्तुलो [कुतः]। यत्– जेत्तुलो [यतः]। तत्– तेत्तुलो [ततः]

त्रस्य डेत्तहे ।।४३६।।

अपभ्रंशे सर्वादेः सप्तम्यन्तात्परस्य त्रप्रत्ययस्य डेत्तहे इत्यादेशो भवति ।। (अपभ्रंश में सर्व आदि सप्तम्यन्त शब्दों से परे त्र प्रत्यय को डेत्तहे आदेश होता है।) यथा—

एत्तहें तेत्तहें वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअ-पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिँ वि न ठाइ ।। १ ।।

[अत्र तत्र द्वारे गृहे लक्ष्मीः विसंष्ठुला भवति।
प्रियप्रभ्रष्टेव गौरी निश्चला क्वापि न तिष्ठति ।। १ ।।]

(यहाँ पर, वहाँ पर, दरवाजे पर, घर मे, लक्ष्मी विसंष्ठुल (अस्थिर) होकर दौड़ती है। प्रियतम से प्रभ्रष्ट [वियुक्त] गोरी के समान निश्चल रूप से कहीं नहीं ठहरती।)

त्व-तलोः प्पणः ।।४३७।।

अपभ्रंशे त्व तलोः प्रत्यययोः प्पण इत्यादेशो भवति।। (अपभ्रंश में त्व और तल प्रत्ययों को 'प्पण' आदेश होता है।) यथा--वड्डुप्पणु परिपाविअइ [३६६।१]।। प्रायोऽधिकारात्। प्रायः शब्द का अधिकार चला आ रहा है अतः वड्डुत्तणहों तणेण [३६६।१] भी रूप मिलता है। कहीं प्पण आदेश नहीं भी होता है।

तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा ।।४३८।।

अपभ्रंशे तव्य प्रत्ययस्य इएव्वउं एव्वउं एवा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति।। (अपभ्रंश में तव्य प्रत्यय को इएव्वउं, एव्वउं और एवा ये तीन आदेश होते हैं।) यथा—इएव्वउँ—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एँउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउँ किं पि णवि मरिएव्वउँ पर देज्जइ ॥१॥

[एतद्गृहीत्वा यन्मया यदि प्रियः उद्वार्यते (त्यज्यते)।
मम कर्तव्यं किमपि नापि मर्तव्यं परं दीयते ॥१॥]

टीकाकारों का कथन है कि कोई सिद्ध पुरुष सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी नायिका को धन देकर उसके पति को माँगता है। उस समय नायिका उत्तर देती है--("मैं इस (धन) को ग्रहण कर यदि प्रिय को छोड़ देती हूँ तो मेरा मरना ही कर्त्तव्य रह जाता है और कुछ भी नहीं।") ऐसे ही एव्वउँ --

देसुच्चाडणु सिहि कढणु घण कुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठएँ अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ ॥ २ ॥

[देशोच्चाटनं शिखिक्वथनं घनकुट्टनं यद् लोके।
मञ्जिष्ठया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं भवति ॥२॥]

(देश से उच्चाटन---किसी प्रदेश से उखाड़ा जाना---किसी देश से निकाला जाना, अग्नि से औंटा जाना, घन से कूटा जाना जो कुछ लोक में होता है, वह सब अति अनुरक्त मंजिष्ठ के द्वारा ही सहने योग्य होता हैं---उसे मंजिष्ठ ही सहन कर पाता है।२।)

एवा -- सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिँ समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥३॥

[स्वपितव्यं परं वारितं पुष्पवतीभिः समानम्।
जागरितव्यं पुनः कः धरति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥३॥]

(रजस्वलाओं [पुष्पवतियों] के साथ सोना वारित (रोका गया) है। यदि वेद प्रमाण है तो उनके साथ जागने को कौन धर (रोक) सकता है) ॥

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥४३९॥

अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य इ इउ इवि अवि इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इ, इउ, इवि और अवि ये चार आदेश होते हैं।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इ का उदाहरण—

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं।
अम्हाहिं वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥१॥

[हृदय यदि वैरिणो घनाः तत् किं अभ्रे (आकाशे) आरोहामः।
अस्माकं द्वौ हस्तौ यदि पुनः मारयित्वा म्रियामहे ॥१॥]

(हे हृदय, यदि वैरी घने हैं तो हम आकाश पर चढ़ेंगे क्या ? हमारे भी दो हाथ हैं, तो फिर मार कर ही मरेंगे ॥१॥) इउ का उदाहरण— गय-घड भज्जिउ जन्ति [३९५।५] ॥ इवि का उदाहरण—

रक्खइ सा विसहारिणी वे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिँ अडोहिउ पीउ ॥२॥

[रक्षति सा विषहारिणी द्वौ करौ चुम्बित्वा जीवम्।
प्रतिबिम्बितमुञ्जालं जलं याभ्यामनवगाहितं पीतम् ॥२॥]

(वह विष-[जल] हारिणी—पनिहारिनी दोनों हाथों को चूम कर जीव की रक्षा करती है, जिन दोनों हाथों से मुंज के प्रतिबिम्ब पड़ने वाले जल को पिया था ॥२॥)

अवि का उदाहरण—

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुञ्ज सरोसु ॥ ३॥

[बाहू विछोट्य याहि त्वं, भवतु तथा को दोषः।
हृदयस्थतः यदि निःसरसि जानामि मुञ्जः सरोषः ॥३॥]

(हाथों को छोड़ कर तू जा, ऐसा ही हो, कोई दोष नहीं, हृदय में स्थिति तुम यदि निकल जाओ तो समझूँ कि मुञ्ज सरोष है ॥३॥)

एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥४४०॥

अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य एप्पि एप्पिणु एवि एविणु इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में क्त्वा प्रत्यय को एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु ये चार आदेश होते हैं।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेप्पि असेसु कसाय-बलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ॥ १ ॥

[जित्वा अशेषं कषायबलं दत्वा अभयं जगतः ।
लात्वा महाव्रतं शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥ १ ॥]

(निःशेष कषाय (पाप) बल (सेना) को जीत कर, संसार को अभय देकर, महाव्रत को धारण करके तत्त्व का ध्यान करके शिव को प्राप्त करते हैं ॥१॥)

पृथग्योग उक्तार्थ ॥ ४३९ और ४४० दोनों सूत्र क्त्वा के स्थान पर ही उपर्युक्त प्रत्यय आदेश करते हैं तो दोनों सूत्रों को एक में ही रखना चाहिए था, पर ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि ४४० सूत्र में उक्त प्रत्यय, ४४१ में जो आगे आएँगे, उन प्रत्ययों के साथ भी होंगे अर्थात् क्त्वा के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय के स्थान पर भी एप्पि इत्यादि चार प्रत्यय होंगे। अतः उन चार प्रत्ययों को अलग करके एक सूत्र बना दिया गया है।

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥४४१॥

अपभ्रंशे तुम प्रत्ययस्य एवं, अण, अणहं, अणहिं इत्येते चत्वारः, चकारात् एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्येते, एवं चाष्टावादेशा भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में (संस्कृत के) तुमुन् प्रत्यय के स्थान पर एवं, अण, अणहं, अणहिं ये चार तथा सूत्र में चकार ग्रहण किया गया है तत्सामर्थ्यात् ४४० सूत्र के भी एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु ये चार प्रत्यय कुल मिलाकर आठ प्रत्यय आदेश होते हैं।) यथा—

देवं दुक्करु निअय-धणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहं मणु पर भुञ्जणहिँ न जाइ ॥१॥

[दातुं दुष्करं निजकधनं, कर्तुं न तपः प्रतिभाति ।
एवं सुखं भोक्तुं मनः परं भोक्तुं न याति ॥१॥]

(अपना धन देना दुष्कर है, तप करना अच्छा नहीं लगता, यों ही सुख भोगने का मन है पर उसका भोग किया नहीं जाता ॥ १ ॥) एप्पि आदि का उदाहरण—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेप्पि चएप्पिणु सयलधर लेविणु तवु पालेवि।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि ॥ २ ॥

[जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां लातुं तपः पालयितुम्।
विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण कः शक्नोति भुवनेऽपि ॥ २ ॥]

(सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतना, (जीतकर) त्यागना, तप लेकर पालन करना, यह सब बिना शान्ति तीर्थेश्वर (तीर्थंकर) के संसार में कौन कर सकता है ? ॥ २ ॥)

गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥ ४४२ ॥

अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयोरेप्पिणु एप्पि इत्यादेशयोरेकारस्य लुग् भवति वा ॥ (अपभ्रंश में गम धातु से परे जो एप्पि और एप्पिणु प्रत्यय उनके एकार का विकल्प से लोप होता है ।) यथा—

गम्प्पिणु वाणारसिहिँ नर अह उज्जेणिहिँ गम्पि।
मुआ परावहिँ परम-पउ दिव्वन्तरइँ म जम्पि ॥१॥

[गत्वा वाराणसीं नराः अथ उज्जयिनीं गत्वा।
मृताः प्राप्नुवन्ति परमं पदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥१॥]

(लोग वाराणसी जाकर अथवा उज्जयिनी जाकर मर कर परमपद प्राप्त कर लेते हैं। अन्य दिव्यलोकों (तीर्थों) को मत कहो (अन्य तीर्थों में परम-पद के लिए जाने को मत कहो।)

पक्षे। जहाँ ए का लोप नहीं होगा वहाँ—

गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिव-तित्थ गमेप्पि।
कीलदि तिदसावास-गउ सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥२॥

[गङ्गां गत्वा यः म्रियते यः शिवतीर्थं गत्वा।
क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥२॥]

(जो गङ्गा जाकर मरता है, अथवा शिवतीर्थ (काशी) जाकर मरता है, वह यम लोक को जीत कर देवलोक में जाकर क्रीडा करता है। ॥२॥)

तृनोणअः ॥ ४४३ ॥

अपभ्रंशे तृनः प्रत्ययस्य अणअ इत्यादेशो भवति ॥ (अपभ्रंश में तृन् प्रत्यय के स्थान पर अणअ आदेश होता है।) यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हत्थि मारणउ लोउ बोल्लणउ पडहु वज्जणउ सुणउ भसणउ । १॥
[हस्ती मारयिता लोकः कथयिता । पटहः वादयिता शुनकः भाषिता ॥]

(हाथी मारनेवाला, संसार कहने वाला, पटह बजने वाला, और कुत्ता भूँकने वाला है ।)

इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥ ४४४ ॥

अपभ्रंशे इव शब्दस्यार्थे नं, नउ, नाइ, नावइ, जणि, जणु इत्येते षट् भवन्ति ॥ (अपभ्रंश में 'इव' के अर्थ में नं, नउ, नाइ, नावइ, जणि, जणु से छह आदेश होते हैं ।) नं का उदाहरण—

'नं मल्ल जुज्झु ससि-राहु करहिं ॥ [३८२।१] ॥ नउ का उदाहरण—

रवि-अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥ १ ॥
[रव्यस्तमने समाकुलेन कण्ठे वितीर्णः न छिन्नः ।
चक्रेण खण्डः मृणालिकायाः ननु जीवार्गलः दत्तः ॥ १ ॥]

(सूर्यास्त के समय व्याकुल चक्रवाक ने कण्ठ में मृणाल का खण्ड दिया उसे छिन्न नहीं किया, मानो बाहर निकलने वाले जीव को न निकलने देने के लिए अर्गला दे दी हो ।) ॥१॥

नाइ का उदाहरण—

वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥२॥
[वलयावलीनिपतनभयेन धन्या ऊर्ध्वभुजा याति ।
वल्लहविरहमहाह्रदस्य स्ताघं गवेष [य] तीव ॥२॥]

(विरह जन्य कृशता के कारण) वलयावली गिरने के डर से धन्या ऊपर हाथ करके जा रही है, मानो वल्लभ के विरह रूपी महाह्लद (महादह-महा सरोवर) का थाह लगा रही है ।) (पानी में डूब कर थाह लगाते समय ऊपर हाथ करके पानी में डूबते हैं । एक चित्र खींचा गया है ।) ॥ २ ॥

नावइ—

पेक्खेविणु मुहु जिण-वरहो दीहर-नयण सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर-भरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[प्रेक्ष्य मुखं जिनवरस्य दीर्घनयनं सलावण्यम्।
ननु गुरुमत्सरभरितं ज्वलने प्रविशति लवणम्॥ ३ ॥]

(जिनवर के दीर्घनयनों तथा लावण्य से युक्त मुख को देखकर (लज्जित होकर) लवण मानों ज्वलन (अग्नि) में प्रवेश करता है) ॥३॥

जणि—

चम्पय-कुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ बइट्ठउ॥ ४॥

[चम्पककुसुमस्य मध्ये सखि भ्रमरः प्रविष्टः।
शोभते इन्द्रनीलः ननु कनके उपवेशितः॥ ४॥]

(हे सखि, चम्पक कुसुम के मध्य में भ्रमर प्रविष्ट है, ऐसा शोभित हो रहा है मानो इन्द्रनील मणि कनक में जड़ दिया गया है।)

जणु—निरुवम-रसु पिएं पिएवि जणु॥ [४०१।३]

लिङ्गमतन्त्रम्॥ ४४५॥

अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रम् व्यभिचारिप्रायो भवति॥ (अपभ्रंश में लिंग अतंत्र होता है--व्यभिचारिप्राय होता है – अर्थात् कोई निश्चय नहीं कि एक ही लिंग होगा। कभी स्त्रीलिंग पुलिङ्ग भी हो जाता है और कभी पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग भी हो जाता है।) यथा--गय कुम्भइं दारन्तु [३४५।१]

अत्र पुंलिङ्गस्य नपुंसकत्वम्॥ (यहाँ पर पुंलिङ्ग का नपुंसक लिङ्ग हो गया है।)

अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ।
जो एहा गिरि-गिलणमणु सो किं धणहे धणाइ (घणाइ ?)॥१॥

[अभ्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिकः आरटन् याति।
यः एषः गिरिग्रसनमनाः स किं धन्यायाः धनानि (घृणायते ?)॥१॥]

(अभ्र (बादल) डूंगरों (पर्वतों) से लगे हैं, पथिक रटता हुआ जा रहा है–"जो इस पर्वत को निगलने वाला है, वह धन्या पर क्या दया करेगा ?"॥]

अत्र अब्भा इति नपुंसकस्य पुंस्त्वम्॥ (यहाँ अब्भा 'अभ्र' नपुंसक को पुंलिङ्ग हो गया है।)

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कन्तस्सु॥ २॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[पादे विलग्नं अन्त्रं शिरः स्रस्तं स्कन्धात् ।
तथापि कटारिकायां हस्तः बलिः क्रियते कान्तस्य ॥ २ ॥]

(प्रियतम के) पैर में अंतडी लगी है, शिर कंधे से लटक गया है, फिर भी कटारी पर हाथ है। ऐसे कान्त को मैं बलि जाती हूँ) ॥ २ ॥

अत्र अन्त्रडी इति नपुंसकस्य स्त्रीत्वम् ॥ (यहाँ पर 'अन्त्र' नपुंसक का अपभ्रंश में 'अन्त्रडी' स्त्रीलिङ्ग हो गया है।)

सिरि चडिआ खन्ति प्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥ ३॥

[शिरसि आरूढाः खादन्ति फलानि पुनः शाखाः मोटयन्ति ।
तथापि महाद्रुमाः शकुनीनां अपराधितं न कुर्वन्ति ॥ ३ ॥]

(चिड़ियाँ महान् द्रुमों के शिर पर बैठकर फल खाती हैं और शाखाओं को भी तोड़ डालती हैं फिर भी महाद्रुम उनका कुछ भी अपराध नहीं गिनते।) ॥ ३ ॥

अत्र डालइं इत्यत्र स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् ॥ (यहाँ 'शाखा' स्त्रीलिंग के स्थान पर 'डालइं' नपुंसक लिंग हो गया है।)

शौरसेनीवत् ॥४४६॥

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति ॥ (अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी के समान कार्य होते हैं।) ॥

सीसि सेहरु खणु विणिम्मविदु
खणु कण्ठि पालंबु किदु रदिए ।
विहिदु खणु मुण्डमालिएँ जं पणएण
तं नमहु कुसुम दाम-कोदण्डु कामहो ॥ १॥

[शीर्षे शेखरः क्षणं विनिर्मापितम्
क्षणं कण्ठे प्रालम्बं कृतं रत्याः ।
विहितं क्षणं मुण्डमालिकायां
तन्नमत कुसुमदामकोदण्डं कामस्य ॥ १ ॥]

(क्षण भर में अपने शिर का शेखर बना लिया, क्षण भर में रति के कण्ठ में लटकने का हार बना लिया, क्षण भर में अपने गले में लगा लिया, ऐसे काम के कुसुम-दाम-कोदण्ड को नमस्कार करो ॥ १ ॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

प्राकृतादिभाषालक्षणानां व्यत्ययश्च भवति ॥ (प्राकृत आदि के भाषालक्षणों का व्यत्यय (उलटा-पलटी) भी हो जाता है)। यथा मागध्यां तिष्ठश्चिष्ठः [४।२९८] इत्युक्तं तथा प्राकृत पैशाचीशौरसेनीष्वपि भवति ॥ (जैसे मागधी में [४।२९८] सूत्र के द्वारा तिष्ठ को चिष्ठ हो जाता है वैसे ही (महाराष्ट्री) प्राकृत, पैशाची और शौरसेनी में भी होता है।) चिष्ठदि' अपभ्रंशे रेफस्याधो वा लुगुक्तो मागध्यामपि भवति। (अपभ्रंश में रेफ का नीचे जाना या लोप होना जो कहा गया है, वह मागधी में भी होता है।)

शद्माणुश-मंश भाल के कुम्भ-शहश्र वशाहे शंचिदे।

इत्यादि अन्यदपि द्रष्टव्यम्। [शत-मानुष-मांस-भाले-कुम्भ-सहस्र वशायाः सञ्चितः इत्यादि] [ऐसे अन्य स्थानों पर भी देखना चाहिए।] न केवलं भाषालक्षणानां त्याद्यादेशानामपि व्यत्ययो भवति। (केवल भाषालक्षण का ही नहीं, अपि तु 'ति' आदि प्रत्ययों के आदेशों का भी व्यत्यय होता है। ये वर्तमाने काले प्रसिद्धास्ते भूतेऽपि भवन्ति। [जो वर्तमान काल में प्रसिद्ध हैं वे प्रत्यय भूत आदि काल में भी होते हैं।) यथा—अह पेच्छइ रहु-तणओ (अथ प्रेक्षांचक्रे रघुतनयः) (रघुतनय ने देखा। भूत के स्थान पर वर्तमान प्रत्यय लगा है।) आभासइ रयणीअरे। [आबभाषे रजनीचरानित्यर्थः] (रजनीचरों को कहा (यहाँ भी भूत के लिए वर्तमान प्रत्यय लगा है।) भूते प्रसिद्धा वर्तमानेऽपि (भूत में प्रसिद्ध प्रत्यय वर्तमान काल में भी लगते हैं।) यथा—सोहीअ एस वण्ठो [शृणोत्येष वण्ठः] [सुना है, यह अविवाहित है।] ('सुना है' के लिए 'सोहीअ' वर्तमान काल का रूप आया है।)

शेषं संस्कृतवत्सिद्धम् ॥४४८॥

शेषं यदत्र प्राकृतादिभाषासु अष्टमे नोक्तं तत्सप्ताध्यायीनिबद्ध-संस्कृतवदेव सिद्धम् ॥ (अवशिष्ट जो महाराष्ट्री आदि प्राकृत भाषाओं में इन आठों अध्यायों में नहीं कहा गया है वह (पूर्वोक्त संस्कृत व्याकरण के रूप में) संस्कृत की सप्ताध्यायी के अनुसार ही सिद्ध समझना चाहिए।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेट्ठ-ट्ठिअ-सूरणिवारणाय छत्तं अहो इव वहन्ती।
जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी ॥१॥
[अधःस्थितसूर्यनिवारणाय छत्रं अधः इव वहन्ती।
जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्क्षिप्ता पृथिवी ॥१॥]

(नीचे स्थित सूर्य (के आतप) से निवारण के लिए कुण्डलीभूत शेष ही मानो छत्र है, उसे नीचे धारण करती हुई पृथिवी जो वाराह के श्वास से शेष के साथ ऊपर फेंकी गई है, वह सुशोभित हो रही है।) ॥१॥

अत्र चतुर्थ्या आदेशो नोक्तः स च संस्कृतवदेव सिद्धः॥ यहाँ पर चतुर्थी के स्थान में जो आदेश होते हैं उन्हें नहीं कहा गया है, वह संस्कृत के ही अनुसार ही सिद्ध हैं। उक्तमपि क्वचित् संस्कृतवदेव भवति। (जो कहीं कोई आदेश कहा भी गया है, वह भी संस्कृत के समान ही होता है)।

यथा प्राकृते उरस् शब्दस्य सप्तम्येकवचनान्तस्य उरे, उरम्मि इति प्रयोगौ भवतस्तथा क्वचिदुरसीत्यपि भवति॥ (जैसे उरस् शब्द का प्राकृत में सप्तमी के एक वचन में उरे, ऊरम्मि रूप होते हैं, वैसे ही कहीं कहीं पर उरसि भी होता है। एवं सिरे, सिरम्मि, सिरसि। सरे सरम्मि, सरसि॥ (इसी प्रकार सिरे, सिरम्मि सिरसि तथा सरे, सरम्मि और सरसि भी होते हैं।) सिद्धग्रहणं मङ्गलार्थम्। ४४८ सूत्र में सिद्ध ग्रहण मंगल के लिए किया गया है। बिना सिद्ध शब्द रखे भी काम चल सकता था। ततोह्या-युष्मच्छ्रोतृकताभ्युदयश्चेति। (इस शब्द से आयु बढ़ती है, श्रोतृकता आती है और अभ्युदय होता है।)

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-
शब्दानुशासनवृत्तावष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः
॥ समाप्तः॥

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रानुक्रमणिका

अडडडुल्लाः	८।४।४२६
अतां डइसः	४०३
अतो डेंत्तुलः	४३५
अदस ओइ	३६४
अनादौ स्वरा–	३९६
अन्त्यत्रयस्य–	३८५
अन्यादृशोऽन्नाइ	४१३
अभूतोऽपि क्वचित्	३९९
अम्हहं भ्यसा–	३८०
अम्हेहिं भिसा	३७८
अवश्यमो डेंडौ	४२७
अस्येदे	४३३
आट्टोणानुस्वारौ	३४२
अन्तान्ताड्डाः	४३२
आपद्विपत्–	४००
आमन्त्र्ये जसो होः	३४६
आमो हं	३३९
इदम आयः	३६५
इदम इमुः	३६१
इवार्थे नं नउ	४४४
एँ चेदुतः	३४३
एइर्जस्शसोः	३६३
एक शसो डिः	४२८
एट्टि	३३३
एतदः स्त्री पुं–	३६२
एत्थु कुत्रात्रे	४०५
एप्येप्पिणु –	४४०
एवं परं समं–	४१८
कथं यथा–	४०१
कादिस्थैदोतो–	४१०
कान्तस्यात उं–	३५४
किमः काइं कवणौ वा	३६७
किमो डिहे वा	३५६
किलाथवा दिवा–	४१६
कुतसः कौ–	४१६
क्त्व इ-इउ-	४३६
क्रियेः कीसु	३८६
क्लीबे जस् -	३५३
गमे रेप्पिणु -	४४२
ग्रहेर्गृण्हः	३९४
घइमादयोऽनर्थकाः	४२४
ङसः सु-हो–	३३८
ङस् ङस्योर्हें	३५०
ङसिभ्यस्ङीनां -	३४१
ङसिङस्भ्यां–	३७२
ङसे र्हे हू	३३६
ङिनेच्च	३३४
ङे हिं	३५७
ङे हि	३५२
जस्शसोरम्हे अम्हइं	३७६
जस् शसोस्तुम्हे तुम्हइं	३६६
ट ए	३४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टा-ङ्यमा पइं तइं	३७०	म्हों म्भो वा	४१२
टा ङ्यमा मइं	३७७	यत्तत्किं भ्यो–	३५८
तक्ष्यादीनां छोल्लादयः	३९५	यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं	३६०
ततस्तदोस्तोः	४१७	यत्रतत्रयोस्त्रस्य–	४०४
तव्यस्य इएव्वउं	४३८	यादृक् तादृक्–	४०२
तादर्थ्ये केहिं-तेहिं	४२५	यावत्तावतोर्वादेर्म उं महिं	४०६
तुम एवमणाण–	४४१	युष्मदः सौ तुहुं	३६८
तुम्हासु सुपा	३७४	युष्मदादेरीयस्य डारः	४३४
तृनोणग्रः	४४३	योगजाश्चैषाम्	४३०
त्यादेराद्यत्रयस्य–	३८२	लिङ्गमतन्त्रम्	४४५
त्रस्य डेत्तहे	४३६	वत्स्यंति स्यस्य सः	३८८
त्व तलोः प्पणः	४३७	वाधो रो लुक्	३९८
दृशेः प्रस्सः	३९३	वान्यथोऽनुः	४१५
पदान्ते उं हुं–	४११	वा यत्तदो–	४०७
परस्परस्यादिरः	४०९	विषण्णोक्त वर्त्मनो–	४२१
पश्चादेवमेवैवेदानीं–	४२०	वेदं किमोर्यादेः	४०८
पुनर्विनः स्वार्थे डुः	४२६	व्यत्ययश्च	४४७
प्रायसः प्राउ-प्राइव-	४१४	व्रजे र्वुजः	३९२
वहुत्वे हुं	३८६	शीघ्रादीनां वहिल्लादयः	४२२
बहुत्वे हुः	३८४	शेषं संस्कृतवत् सिद्धम्	४४८
ब्रूगो ब्रुवो वा	३९१	शौरसेनीवत्	४४६
भिसा तुम्हेहिं	३७१	षष्ठ्याः	३४५
भिस्येद्वा	३३५	सर्वस्य साहो वा	३६६
भिस्सुपोर्हिं	३४७	सर्वादेर्ङसेर्हां	३५५
भुवः पर्याप्तौ हुच्चः	३९०	सावस्मदो हउं	३७५
भ्यसामोर्हुं	३५१	सुपा अम्हासु	३८१
भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं	३७३	सौ पुंस्योद्वा	३३२
भ्यसो हुं	३३७	स्त्रियां जस्–	३४८
मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः	३८३	स्त्रियां डहे	३५६
महु मज्झु–	३७९	स्त्रियां तदन्ताड्डीः	४३१
मोऽनुनासिको वोवा	३९७	स्यमोरस्योत्	३३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यम् जस् शसां लुक्	३४४	हि स्वयोरिदुदेत्	३८७
स्यादौ दीर्घह्रस्वौ	३३०	हुं चेदुद्भ्याम्	३४०
स्वराणां स्वराः	३२९	हुहुरु घुग्घादयः	४२३

उदाहरणगत दोहादि की अनुक्रमणिका

अंगहिं अंगु	८।४।३३२।२	एक्क-कुडुल्ली	४२२।१२
अंसु जलें	४१४।३	एक्कसि सील	४२८।१
अइ तुंगत्तणु	३९०।१	एक्कहिं अक्खिहिं	३५७।२
अगलिअनेह	३३२।१	एक्कु कइअह	४२२।१
अग्गिएँ उण्ह	३४३।१	एत्तहे तेत्तहे	४३६।१
अज्जवि नाहु	४२३।३	एतहें मेह	४१९।४
अन्ने ते दीहर	४१४।१	एसी पिउ	४१४।४
अब्भड वंचिउ	३९५।३	एह कुमारी	३६२।१
अब्भा लग्गा—	४४५।१	ओ गोरी मुह	४०१।२
अम्बणुलाइवि	३७६।२	कन्तु जु	४१८।२
अम्मडि पच्छा	४२४।१	कन्तु महारउ	३५८।१
अम्मि पओहर	३९५।५	कमलइँ मेल्लवि	३५३।१
अम्मीए सत्था	३९६।२	कहिं ससहरु	४२२।७
अम्हे थोवा	३७६।१	किर खाइ न पिअइ	४१९।१
अह पेच्छइ	४४७	कुञ्जर सुमरि म	३८७।१
अहवइ	४१९	कुञ्जरु अन्नहं	४२२।८
अह विरल	३४१।३	केत्थुवि	४०५।१
आयइँ लोअहों	३६५।१	केम समप्पउ	४०१।१
आयहिं जम्महिं	३८३।३	खग्ग विसाहिउ	३८६।१
आयहों दड्ढ	३६५।३	खज्जइ नउ	४२३।२
इत्तउँ ब्रोप्पिणु	३९१।१	खेडयं	४२२।९
उअ कणिआरु	३९६।५	गंग गमेप्पिणु	४४२।२
एँउ गृण्हेप्पिणु	४३८।१	गम्पिणु वाणारसिहिं	४४२।१
एइ ति घोड़ा	३३०।४	गयउ सु	४२२।१५
एकमेक्कउं	४२२।४	गिरिहे	३४१।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणेँहि न	३३५।१	जो गुण गोवइ	३३८।१
चञ्चलु जीविउ	४१८।३	जो पुणु मणि	४२२।१३
चम्पय कुसुमहोँ	४४४।४	ढोल्ला एँह	४२५।१
चलेँहिँ चलन्तेहिँ	४२२।१४	ढोल्ला मइ तुहुँ	३३०।२
चूडुल्लउ	३९५।२	ढोल्ला सामला	३३०।१
जं दिट्ठउ	३९६।१	तं तेत्तिउ जलु	३९५।७
जइ केवइँ	३९६।४	तं बोल्लिअइ	३६०।२
जइ तहेँ	३५६।१	तउ गुणसम्पइ	३७२।१
जइ न सु	३६७।१	तणहँ तइज्जी	३३९।१
जइ पुच्छह	३६४।१	तरुणहो तरुणिहो	३४६।१
जइ भग्गा	३७९।२; ४१७।१	तरुहुँ वि	३४१।२
जइ रच्चसि	४२२।१७	तिलहँ तिलत्तणु	४०६।२
जइ ससणेही	३६७।४	तुच्छ मज्झहे	३५०।१
जइ सो घडदि	४०४।१	तुम्हेँहिँ अम्हेँहिँ	३७१।१
जउ पवसन्ते	४१३।३	ते मुग्गडा	४०९।१
जहिँ कप्पिज्जइ	३५७।१	तो वि द्रेहि	४२२।५
जहिँ मरगय	३४९।२	दइउ घडावइ	३४०।१
जाइज्जइ तहिँ	४१९।२	दहमुहु भुवण-	३३१।१
जाउ म जन्तउ	४२०।१	दिअहा जन्ति	३८८।१
जाम न निवडइ	४०६।१	दिवेहिँ विढत्तउँ	४२२।४
जामहिँ विसमी	४०६।३	दूरुड्डाणेँ	३३७।१
जिब्भिन्दिउ	४२७।१	देवं दुक्करु	४४१।१
जिवँ-जिवँ वंकिम	३४४।१	देसुच्चाडणु	४३८।२
जिवँ तिवँ तिक्खा	३९५।१	धवल विसूरइ	३४०।२
जिवँ सुपुरिस	४२२।२	निअमुह	३४९।२
जीविउ कासु न	३५८।२	पइँ मइँ	३७०।३
जे छड्डेविणु	४२२।३	पइँ मुक्काहँ	३७०।१
जेप्पि असेसु	४४०।१	पइँ मेल्लन्तिहेँ	३७०।४
जेप्पि चएप्पिणु	४४१।२	पढ गृण्हेप्पिणु	३९४।१
जे महु दिण्णा	३३३।१	पहिआ दिट्ठी	४३१।१
जेवडु अन्तरु	४०७।१	पाइ विलग्गी	४५५।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिउ आइउ	४३२।१	रक्खइ सा	४३१।२
पिय संगुमि	४१८।१	रवि अत्थमणि	४४४।१
पुत्तें जाएँ	३९५।६	लोणु विलिज्जइ	४१८।५
पेक्खेविणु	४४४।३	वच्छहें गृण्हइ	३३६।१
प्रङ्गणि चिट्ठदि	३६०।१	वम्भ ते विरला	४१२।१
प्राइव मुणिहँ	४१४।२	वलयावलि	४४४।२
प्रिय एम्वहिँ	३८७।३	वायसु उड्डावन्तिअएँ	३५२।१
फोडेन्ति जे	३५०।२; ३६७।२	विप्पिअ आरउ	३४३।२
बप्पीहा कइँ	३८३।२	विरहाणलजाल	४१५।१;४२९।१
बप्पीहा पिउ	३८३।१	विहविपणट्ठइ	४१८।६
बलि अब्भत्थणि	३८४।१	विहवे कस्सु	४२२।६
बाह विछोडवि	४३९।३	विहि विणडउ	३८५।१
बिट्टीए मइ	३३०।३	शद माणश मंश	४४७
बिम्बाहरि तणु	४०१।३	संगर सएँहिँ	३४५।१
ब्रासु महारिसि	३९९।१	संदेसें काइँ	४३४।१
भग्गउँ देक्खिवि	३५४।१	सत्थावत्थहँ	४२२।१६
भण सहि	४०१।४	सन्ता भोगजु	३८९।१
भमर म रुणु	३६८।१	सबधु करेप्पिणु	३९६।३
भमरा एत्थुवि	३८७।२	सरिहिँ न	४२२।१०
भल्ला हुआ	३५१।१	सामि पसाउ	४३०।१
भाईरहि जिवँ	३४७।१	सायरु उप्परि	३३४।१
मइँ जाणिउँ पिय	३७७।१	साव सलोणी	४२०।३
मइँ जाणिउँ बुड्डीसु	४२३।१	साहु विलोउ	३६६।१
मइँ जाणिउ प्रिय	४०१।५	सिरि चडिआ	४४५।३
मइँ मणिअउ	४०२।१	सिरि जरखण्डी	४२३।४
मइँ वुत्ताउँ	४२१।१	सीस सेहरु	४४६।१
मह हिअउँ तइँ	३७०।२	सुन्दर सव्वंगाउ	३४८।१
महु कन्तहाँ वे	३७९।१	सुपुरिस कंगुहे	३६७।३
महु कन्तहो गुट्ठ–	४१६।१	सुमरिज्जइ	४२६।१
माणि पणट्ठइ	४१८।४	सोएवा पर	४३८।३
मुह कबरिबन्ध	३८२।१	सोसउ म	३६५।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोहीग्र एसवंठो	४४७	हिम्रडाँ जइ	४३६।१
हत्थि मारणउ	४४३।१	हिम्रडा पइँ	४२२।११
हरिनच्चाविउ	४२०।२	हिम्रडा फुट्टि	३५७।३
हिम्रइ खुडुक्कइ	३९५।४	हेट्ठट्ठिग्र	४४८।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश शब्दावली की क्रमानुसार सूची

अ

—अंकुसहँ ३४५; ३८३।३
अंसु ४१४।३; ४३१
अइ ४२५
अइतुङ्गत्तणु ३९०
अइमत्तहं ३४५
अइरत्तिए ४३८।२
अइसो ४०३
अक्खणह (अक्खणउं) ३५०।१
अक्खिहिँ ३५७।२
अखइ ४१४।२
अग्ग ३९१; अग्गइ ४२२।११
अग्गलउ [अग्र+ल+कः] ३४१।२
अग्गलु ४४४
अग्गिट्ठउ ४२९
अग्गी ३४३
अग्घइ ३८५
अङ्ग; अङ्ग ३३२।२; अङ्गहिँ ३३२।२
अङ्गुलिउ ३३३
अचिन्तिअ ४२३।१
अच्छ ३५०।१
अच्छइ ३८८ अच्छउ ४०६।३
अच्छि ३८८
अज्जवि ४१४।२; ४२३।३
अज्जु ३४३।२; ४१८।५
अडोहिउं ४३९।२
अणउ ४००
अणुत्तर ३७२
अणुदिअहु ४२८
अणुरत्ताउ ४२२।९
अत्थमणि ४४४।१
अत्थिहिं ३५८।१
अद्धा ३५२।१
अधिन्नइं ४२७।१
—अनल ३९५।२; ४१५; ४२९।१
अनु ४१५
—अन्तरु ३५०।१; ४०६।२; ४०७; ४०८
अन्त्रडी ४४५।२
अन्धारइ ३४९।१
अन्न ३७२; अन्नु ३३७; ३५०।१; ३५४; ४०१।२; ४११; ४१४।१; ४१८।६; ४२२।१
अन्नइं ४२७, अन्नह ४१५
अन्नहि ४२५; अन्नहिं ३५७।२; ३८३।३; ४१२।१; अन्नें ३७०।२; अन्ने ४१४।१
अन्नाइसो ४१३
अपूरइ ४२२।१४
अप्पउं ४२२।३; अप्पण ४२२।१२; अप्पणउं ३५०।२; ३६७।२;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्पण ३३८; ३५०।२; अप्पणु ३३७; अप्पणें ४१६; अप्पहो ३४६
अप्पिएँ ३६५।१
अब्भडवंचिउ ३६५।३
अब्भत्थणि ३८४
अब्भा ४४५
अब्भिडइ ३८३।३
अब्भुद्धरणु ३६४
अभउ ४४०
अभग्गु ३८७।३
अम्बणु ३७६।२
अम्मडि ४२४
अम्मि ३६५।५; अम्मीए ३६६।२
अम्हइँ ३७६।२; अम्हहं ३७६।२; ३८०; ४१७; अम्हासु ३८१; अम्हाहिं ४३६।१; अम्हे ३७६।१; ४२२।९; अम्हेँहिं ३७१; ३७८; ४२२।६
अम्हारा ३४५; ४३४
अरि ४१८।५
अलहन्तिअहे ३५०।१
अलिउलइं ३५३
अवगुणु ३६५।६
अवडयडि ३३६
—अवत्थहं ४२२।१६
—अवत्थेहिं ३६६।२
अवराइसो ४१३
अवराहिउ ४४५।३
अवरेण ३६५।६
अवरोप्परु ४०६
अवस ३७६।२; ४२७
अवसर ३५८।२
अवसें ४२७
√अस् । सन्ता ३८९
असइहिं ३६६।१
असड्ढलु ४२२।७
असणु ३४१।२
असारु ३६५।७
असुलह ३५३
असेसु ४४०
अह ३३६; ३४१।३; ३६५।३; ३६७।४; ३७६।२; ३८०; ४१६; ४१७।१; ४२२।१५; ४४२।१; ४४७
अहरि ३९०
अहरू ३३२।२
अहरें ३३२।२
अहवइ ४१६।१
अहवा ४१६।२
अहो ३६७।१, ४४८

आ

आइउ ४३२
आएण ३६५।२
आगदो ३५५; ३७२; ३७३; ३८०
आणन्द ४०१।३
आणहि ३४३।२
आणिअइ ४१६।२
आदन्नहं ४२२।१६
√आप् । पज्जत्तं (पर्याप्तम्) ३६५।२; पावीसु ३६६।४; ३९८; पाविअइ ३६६; ४३७; पत्तु (प्राप्तम्) ३३२।२;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाविय ३८७।१; समप्पइ ४२२।४; समप्पउ ४०१।१ समत्तु ४२०।१
आभासइ ४४७
आयइँ ३६५।१; आयहो ँ ३६५।३; आएण ३६५।२; आयहिँ ३८३।३
आयन्न ३४१।२;–मायरेण ४२२।५
आयहिँ ३८३।३
– आरउ ३४२।२
आलवणु ४२२।१६
आलु ३७९।१; ४२२
आवइ ३६७।१; ४००; ४१९।२
आवट्टइ ४१९।४
आवही ४२२।१
– आवास ४४२।१
आवासिउ ३५७।२
आस ३८३।१

इ

इ (अपि) ३८३।२; ३८४; ३९०; ४३९।३
इ एइ (एति) ४०६।३; एसी ४१४।४; एन्तु ३५१
इच्छहु ३८४
इट्ठु ३५८।२
इत्तउँ ३५१
इन्दनीलु ४४४।४
इमु ३६१
इयरु ४०६।३
इव ४४८
√इष् । इच्छह ३८४; इच्छहु ३८४; एच्छण ३५३; इट्ठु ३५८।२; संपेसिअ ४१४।३
इह ४१९।१

उ

उअ ३९६।५
उअहि ३६५।२
उच्छङ्गि ३३६
उज्जाण ४२२।१०
उज्जुअ ४१२
उज्जेणिहिँ ४४२।१
उट्ठ-बईस ४२३।४
उट्ठब्भइ ३६५।३
उट्ठिअउ ४१५; ४१६
उड्डावन्तिअए ३५२
उण्हउ ३४३।१
उण्हत्तणु ३४३।१
उत्तरइ ३३९
उद्धब्भुअ ४४४।२
उप्पत्ति ३७२
उप्परि ३३४
उम्मिलइ ३५४
उरे, उरम्मि, उरसि ४४८
– उल ३८२
उलइं ३५३
– उल्लालिउ ४२२।१३
उल्हवइ ४१६
उवमिअइ ४१८।२
उव्वत्ता ४१४।३
उव्वरिअ ३७९।१
उव्वारिजइ ४३८।१

ऊ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

– ऊसासें हिं ४३१

ए

एअं (एतत्) एइ ३३०।४; ३६३; ४०६।३; ४१४।४ एँउ ४३८।१

एकमेक्कउं ४२२

एक्क ३७१; ४२२।१२; ४२६; ४३१; एक्कइ ३८३।२; एक्कहिँ ४२२।८; एक्कहिं ३३१; ३५७।२; एक्कु ४२२।१, एक्कुवि ४२२।४

एक्कसि ४२८

एच्छण ३५३

एत्तहें ४१६।४; ४२०; ४३६

एत्तिउ ३४१।२

एत्तुलो ४०८; ४३५

एत्थु ३३०।४; ४०४; ४०५;

एत्थुवि ३८७।२

एन्तु ३५१

एम्व ३७६।१; ४१८।१

एम्वइ ३३२।२; ४२०।१; ४२१; ४२३।२; ४४१।१

एम्वहिँ ३८७।३

एम्वहिं ४२०।२

एवं ४३०

एवडु ४०८

एस ४४७

एसी ४१४।४

एह (एषः) ३३०, ३४४; ३६२; ३६३, ४१६; एँह ४२५ एहउँ ३६२; एहा ४४५।१; एहु ४२२।११; एहु ३६२; ३६५।४; ४०२ एहो ३६२; ३६१

– एहु (ईदृक्) ४०२

ओ

ओ ४०१।२

ओइ ३६४

ओहट्टइ (अपभ्रश्यते) ४१६ ४.

क

क (किम्) ४२०।३; ४२२।१३ कवि ३७७; ४०१; ४२०; ४२२

कइँ ३८३।२; ४२६

कइ ३७६।१; ४२०

कइअह ४२२।१

कइसो ४०३

कउ ४१६; ४१८।२

कङ्गुहे ३६७।३

कच्चु ३२६

कज्ज ४०६; कज्जु ३४३।२

कज्जें ३६७।३

कञ्चण ३६६।५

कञ्चुआ ४३१

कटरि ३५०।१

कटारइ ४४५।२

कडु ३३६

कड्डउँ ३८५

कढणु ४३८।२

कणइ ४४४।४

कणिअ ४१६।४

कणिआरु ३६६।५

कण्ठि ४२०।३; ४४४।१; ४४६.

कण्णडइ ४३२; ४३३

कण्णहिँ ३४०।१

√कथ, कधिदु ३६६।३

कन्तस्सु ४४५।२ कन्तहों ३७६।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८९; ३९५।५; ४१६; ४२९
कन्ति ३६६।५; कन्तिएँ ३४९।२
कन्तु ३४५; ३५१।१; ३५७।१; ३५८।१
३६४; ३८३।३; ४१८ २; ४३४
कन्नडइ ४३२.१; ४३३
कप्पिज्जइ ३५७।१
कमल, कमलइँ ३५३; कमलि ३६५।१;
कमलु ३३३।२; ३६७, ४१४।१
कय ४२०.१ दे० 'कर्'
कयम्–४२२।९
कयम्बु ३८७।२
√कर, करइ ३३८; करदि ३६०।१
करन्ति ३७६।१; ४४५।३ करहिं
३८२; ३८५; ४४४ करहि ३८५।१
करहु ३४६; ४२७;४१८।३; करीसु
३९६।४; करु ३३०।२, ३; करेँ
३८७।३; करेइ ३३७; ४१४।४;
४२०।१; ४२२।१६ कीसु ३८९;
किज्जउं ३३८; ३८५; ३८९;
४११; ४४५; करउं ३७०।२;
करण ४४१।१ करतु ३८८; करन्न
४३१; करन्तहो ४००; कराविअा
४२३।४; करि ३५७; करि एव्वउं
४३८।१; करेप्पिणु ३९६।३; करेवि
३४०।२; किअउ ४२९; किअउँ
३७१।१ ३७८; किदु ४४६;
अकिआ ३९६; कर (कर हाथ)
३४६।१; ३९५।३; ४१८।४; करि
४३६।२; ३५४; करेँ ३८७।३,
कर्हिं ३४६
करग्ग (कराग्र) ४२२।१३
करग्गुल्लालिउ ४२२।१३
करवालु ३५४; ३७६।१; ३८७।२
करालिअउ ४१५; ४२६
करि (हाथी) ३५३
कलंकिअहं ४२८
कलहिअउ ४२४
— कलावु ४१४।१
कलिजुगि ३३८।१; ३७५; ४१०
कलिहि ३४१।३
कलेवरहो ३६५।३
कवण ३५०।२; ३६७।२
कवणहिँ ४२५; कवणु ३६५।६
कवणेण ३६७।३
कवरि ३८२
कवँलु ३९७
कवल ३८७।१
कवालु ३८७।३
कवि ४२०।३
कवोलि ३६५।२
√कस वि + √कस्; विहसन्ति ३६५
कसरक्केहिं ४२३।२
कसरेहिं ४२१;
कसवट्टइ (कसौटी) ३३०।१
कसाअ-य ४४०
कस्सु ४२२।६
कहवि ७३०।१
कहन्तिहु ४१५।१;४१६
कहाँ ३५५
कहिँ ३५७।३; ४२२।७
कहिँवि ४२६
कहिं ४२२।५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहि (कथय-कहो) ४२२।१२
कहे २५६
काइँ ३४९।१; ३६७।१; ३७०।२; ३८३।२; ४३४
काइं ३५७।३; ४१८।३; ४२१।१; ४२२।२; ४२८
काच ३२९।१
कामहो ४४३
– काय ३५०।१
कायर ३७६।१
कालक्खेवें ३५७।३
–कालि, ४१५; कालि ४२२।१४; ४२४
कावालिय ३८७।३
का वि ३९५।१
कासु ३५८।२
किं ३६५।२; ३६७।४; ४२२।६; ४३४
किंगि ४१८।६; ४३८।१
किंन ३६५।२; किन ३४०।२
किज्जउँ ३३८।१; ४११; ४४१।२
कित्ति ३३५; ३४७; ४००; ४१८
कित्तिउ [पा० केत्तिउ] ३८३।१
किध ४०१
किन्नओ [–०उ] ३२६
किर ४१६।१
किलिन्नओ [–०उ] ३२६
किवँ ४०१।२; ४२२।१२
किवणु ४१६।१
किह ४०१।३
किहे ३५६
कीलदि ४४२।२
कीसु [दे० √किर] ३८९
कुञ्जर ३८७।१; कुञ्जरु ४२२।८
कुट्टणु ४३८।२
कुडीरइ ३६४
कुडुम्बउँ ४२२।१२
कुडुल्ली ४२२।१२; ४२६; ४३१
कुड्ड ३६६।४
कुड्डेँण [पा० कोड्डिण, कोड्डेँण] ४२२।८
कुम्भ ४०६।१; ४४७; कुम्भइं ३४५।१; ४४५।१
कुम्भयडि ४०६।१
कुमारी ३६२
कुरल ३८२
कुलु ३६१
कुसुम ४४६; कुसुमदाम ४४६
कुसुमहोँ ४४४।४
कुहइ ३६५।३
कृदन्तहोँ ३७०।४
केत्तुलो ४०८; ४३५
केत्थु ४०५; केत्थु वि ४०४।१
केम [पा० केवँ] ४०१।१
केम्ब [पा० किम्ब] ४१८।१;
केरउं ३७१
केरउ [पा० केरय] ३५९,
केरएँ ४२२।१५
केवँ ३४३।१
केवँइ ३९०; ३९६।४; ३९८
केवडु ४०८
केँवि ३८७।२
केवि ३७६।२

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केस—४१४।१
केसकलाउ ४१४।१
केसरि ३३५; ४२२।१५
केसहिँ ३७०।३
केहउ (कीदृक्)४०२
केहिँ ४२५
को ३७०।३; ३६६।२; ४२२।५, ४३८।३; ४३६।३; ४४१।२; कोवि ४१५; ४२२।४
कोइ ३८४
कोट्टरइं ४२२।२
कोद्दण्डु ४४६
कोन्तु ४२२।१३

ख

खग्ग ३३०।४; ३८६।१; ४११
खग्गिण (पा० खग्गें, खग्गेण) ३५७।१
खग्गु ३५७।१
खजइ ४२३।२
खणु ४४६; खणेण ३७१ खणें ण ४१६।१
खण्डइं ३४०।२; खण्डइ ३६७।१; ४२८ खण्डिउ ४१८।२; खण्डी ४२३।४; खण्डु ४४४।१
खन्ति ३७२; ४४५।३
खन्धस्सु ४५५।२
खयगालि ३७७; ४०१।५
खर ३५४
खल ३४०; ३६७।४; ४०६।२; ४१८।५; खलाइं ३३४; खलु ३३७; ४२२।१
खल्लिहडउँ ३८६
खसफसिहूअउ ४२२।१३
खाइं ४२४
खाइ ४१६।१; खन्ति ४४५ खाहि ४२२।४; ४२२।१३। खजइ ४२३
खुडुक्कइ ३६५।४
खेड्डयं ४२२।६
खेल्लन्ति ३८२
खेडि ४१६।१

ग

गंगा ३६६
गइ ४०६।३
गइम्र ३६७।४
गउ ४२६; – गउ ४४२।२
गउरि ३२६
गङ्ग ४४२।२; गङ्गा ३६६।१; ४१६।२
गज्जहिं ३६७।४; गज्जिउ ४०६; गज्जु ४१८।५
गणइ ३५८।२; गणन्ति ३५३; ४१४।२; गणन्तिए ३३३
गण्ठि ४२०।३
गण्डत्थले ३५७।२
— गण्डाइं ३५३
√गम—गदो ३७६।१; गमिही ३३०।२; गमेप्पि, गमेप्पिणु ४४२।२; गम्पि, गम्पिणु ४४२।१; गउ ४२६; —गउ ४४२।२; गय ३५२; ४१९।३; गयउ ४२२।१५; गया ३७६।२; –गयहिं ३७०।३; ३७७; आगदो ३५५; ३७२; ३७३; ३८० निस् + = णिग्गउ ३३१
गय (गज.) ३३५; ३४५; ३८३।३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३६५।५; ४१८; ४३६।१; ४४५
गयएयलु ३७६।१
गयणि ३६५।४
—गरु (—कर) ३९६।१
गरुआ ३४०।२
√गल्—गलइ ४१८।५; गलन्ति ४०६।२; अगलिय ३३२।१
गलि ४२३।४
गवक्खें हिं ४२३।३
गवेसइ ४४४।२
गह ३८५
गहीरिम ४१९।४
गाम—गामहँ ४०७
गिम्भो ४१२
गिम्ह ३५७।२
गिरि ३३७; ४४५।१; गिरिहे ३४१।१
गिलणमणु ४४५।१
गिलि-गिलि ३९६।१
गिलिज्जइ ३७०।२
गुट्ठ ४१६
गुण ३३८; ३७२; ४१४।१; गुणहिँ ३४७; ४००; गुणहि ४१८; गुणु ३६५।६ गुणे हिँ ३३५
गुणइ ४२२।१३
गुरु ४४४।३
√ग्रह, गृण्हइ ३३६ गृण्हेप्पिणु ३९४; ४३८।१; ग्रहन्ति ३४१।२; घेप्पइ ३४१।३; घेप्पन्ति ३३५
गोट्ठडा ४२३।४
गोरडी ३६५।४; ४२०।२; ४३१; ४३६
गोरि ३२९; ३८३।३; गोरिअहे ४१४।३; गोरिहें ३६५।१; गोरी ३९६।५; ४०१।२; ४१८।५
गोवइ ३३८

घ

घइं ४२४
घञ्चलइं (झकट) ४२२।२
√घट्, घड ३९५।५; ४३९ १; घडदि ४०४; घडावइ ३४०।१; ४११; घडिअ ४१४।१; घडिअड ३३१
घण दे० "घृण"
घण (घन) ३८७।२; ४१४।१; ४३८।२; घणा ४२२।१७; ४३९।१
घत्त ४१४।३
घर ३६४; घरहिँ ४२२।१३; घरि ४२३।३; ४३६; घरु ३४१।१, ३५१।१; ३४३।२; ३६७।१; ४२२।१२
घरिणि ३७०।३
घल्लइ ३३४; ४२२।८; घल्लन्ति ४२२।३
घाउ ३४६
घुग्घिउ ४२३।३
घुडुक्कइ ३६५।४
घुण्टेहिं (पा० घुंट्टेहि) ४२३।२
घृण (पा० घण, घण) = दया, ३५०।२; ३६७।२
घेत्तूण दे० 'ग्रह्-गृण्ह्'
घेप्पइ दे० 'ग्रह् गृण्ह्'
घेप्पन्ति दे० 'ग्रह-गृण्ह्'
घोडा ३३० ४; ३४४; ३६३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च

चइज्ज ४१८।४

चउ (चार) ३२१

चउमुह ३११

चएप्पिणु (दे० 'चयइ') ४४१।२

चक्कें ४४४।१

चञ्चलु ४१८।३

चडइ ४२१; चडिअउ ३३१; चडिआ ४४५।३

चडक्क ४०६।१

चडाहुं ४३६।१

चत्तङ्कुसहं ३४५; ३८३।३

चन्दिमएँ ३४६।१

चम्पय ४४४।४

चम्पावण्णी ३३०।१

चम्पिज्जइ ३९५।६

चयइ (त्यजति) चय ४२२।६;
चइज्ज (पा० चएज्ज) ४१८।४;
चएप्पिणु ४४१।२ चत्त- ३४५;
३८३।३

चरि ३८७।१

चलण = चरण, ३९९

चलेंहिं (= चलाभ्याम्) ४२२।१४

चलन्तेंहिं (= वलमानाभ्याम्) ४२२।१४

चवेड (= चपेटा) ४०६।१

चाउ (= त्याग) ३९६।३

चारहडि (च + आरभटी) ३९६।३

चिट्ठदि, दे० स्था ३६०।१

चिन्त, चिन्तइ ४२२।१३; चिन्तन्ताहं ३६२; चिन्तिज्जइ ३९६।२; ४१०

चिष्ठदि दे० स्था ४४७

चुण्णीहोइ (= चूर्णी भवति) ३९५।२
४३०

चुम्बिवि (= चूमकर) ४३९।२

चूडुल्लउ (= कंकण) ३९५।२; ४३०

चूरु करेइ (चूर-चूर करता है) ३३७

चे अइ (= चेतयति) ३६६।२

चिचअ (= एव) ३६५।२

छ

छंमुहु (= षण्मुख) ३३१

छइल्ल (= विदग्ध, छविल) ४१२

छड्डइ (= छोड़ना, छाड़ना) छड्डुहि ३८७।३ छड्डेविणु ४२२।३

छत्तं (= छत्र) ४४८

छन्दउँ (= छन्दक) ४२२।१२

छाया ३७०।१; ३८७।२

छारु (= क्षार) ३६५।३

√छिद् (छिनत्ति) छिज्जइ ३५७।१
४३४; छिण्णु (= छिन्न) ४४४।१

छुडु (= यदि) ३८५।१; ४०१।१;
४२२।१४

छेयउं (= छेदक) ३६०

छोल्लिज्जन्तु (पा० छोल्लेज्जंतु) = छोला जाता, ३६५।१

ज

जं दे० जो ३६५।३; ३७१।१; ३७८;
३८७; ३;३८८; ३६०; ३६६।१;
४२०।२; ४२६; ४२६; ४३४;
४३८।२; ४४६

जइ (यदि) ३५१।१ ३५६; ३६४;
३६५।३; ३६७।४; ३७०।१;
३७६।२; ३८४; ३९०; ३६१;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३६६।४; ३६८; ३६६; ४०१।४; ४०४; ४१७।१; ४१८।४; ४१६।२; ४२२।८; ४३८।३; ४३६।१; ३
जइ (=यदि, जगति) ३६५।१
जइ वि (=यद्यपि) ३८३।२; ४२२।४
जइसो ४०३
जउ (पा० जओ) जो, ४१६।३
जगि (=जग) ४०४।१; ४०५; जगु ३४३।१
जग्गेवा (=जागरितव्यम्) ४३८।३
जज्जरिआउ (जर्जरिताः) ३३३; जज्जरियाउ (पा० जज्जरिआओ) ३४८।१
जण (जन) ३६४; (पा० जणा) ३७२; ३७६।१; (पा० जणु) ४१८।६; जणस्सु ४१६।३; जणु ३३६; ३३७; ३३९; ४०६।३; जणेण ३७१
जणि (=इव) ४४४।४
जणु (=इव=हिं० जनु) ४०१।३; (पा०) ४४४।४
जत्तु (=यत्र) (पा० जत्रु) ४०४
जन्तउ (=यातु) ४२०।१
जन्ति (=यान्ति) ३८८; ३६५।५; ४३६।१
जम (यम) ३७०।३; जमहो ४१९।१
जम्पइ, जम्पि ४४२।१
जम्पिरहे ३५०।१
जम्म- (जन्म) जन्महिँ ३८३।३; जम्मु ३९६।३; ३९७; ४२२।४
जय ३७०।३
जयइ ४४८
जयसिरि ३७०।३
जयस्सु ४४०
जर ४२३।४
जल (जल) जलहु ४१५; जलि ३८३।१,२ जलु ३९५।७; ४१९।४; ४२० ४२२।१५; ४३९।२ जलें ४१४।३; जले ३६५।२
जलइ (ज्वलति) ३६५।२
जलणि ४४४।३; जलणो ३६५।२
जसु दे० जो
जह (यथा) ४१९।१
जहाँ (यस्मात्) ३५५
जहिँ (यत्र) ३५७।१; ३८६; ४२६; जंहि ३४९।२; ४११; ४२२।५
जहे दे० जो
जा दे० जो
जाइ (याति) ३५०।१; ४४१।१; ४४४।२; ४४५।१
जाइज्जइ ४१९।२
जाइट्ठिअए ४२२।१७
जाई ३६५।१
जाउँ ४०६।२; जाउं ४२६; जाउ ३३२।१; ४२०।१
जाएँ दे० जो
जाणइ (जानाति) ४०१।४; ४१९।१; जाणउँ ३९१; ४३६।३; जाणह ३६६; जाणिउँ ३७७; ४२३; जाणिउ (पा० जाणिउं) ४०१।५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाणिग्रइ (ज्ञायते) ३३०।४
जाम (यावत्) ३८७।२; ४०६।१
जामहिँ (यावत्) ४०६।३
जाया ३५०।२; ३६७।२
जाल ३९५।२; ४१५; ४२६
जावँ ३९५।३
जासु दे० 'जो'
जाहँ, जाहं, दे० 'जो'
जाहि (=जाते हो) ४२२।१; (जाओ) ४३६।३; जाहुं ३८६
जि (एव) ३४१।३; ३८७।१; (पा० में) ४०६; ४१४।१; ४१६।२; ४२०।१; ४२२।१३; ४२३।३; ४२९
जिण-(=जिन-) ४४४।३
जिण-वरहो (=जिनवरस्य) ४४४।३
जिणेप्पि (=जित्वा) ४४२।२
जिब्भिन्दिउ (=जिह्वेन्द्रियम्) ४२७
जिवँ (=यथा=ज्यों) ३३०।३; ३३६; ३४७; ३५४; ३७६।२; ३८५; ३९५।१ ३९६।४; ३९७; ४२२।२; ४२२।१७
जिवँ जिवँ ३४४; ३६७।३; ४०१;
जिहं (यथा) ३३७; जिह ३७७; ४०१।५
जीउ (जीवम्) ४३९।२
√जीव्, जीवइ (जीवति) ३६७।४;
जीवहँ ४०६।३;
जीवग्गलु (जीव+अर्गला) ४४४।१
जीविउ (जीवितम्) ३५८।२; ४१८।३;
जु दे० 'जो'

जुअंजुअ (पृथक्-पृथक्, जुदाजुदा) ४२२।१२
जुअलु (युगलम्) ४१४।१
जुज्झन्तहो (युध्यमानस्य) ३७६।१
–जुज्झु ३८२।१
जुज्झें ३८६; ४२६
जुत्तउ (युक्तः) ३४०।२
जें, जे दे० 'जो'
जे दे० 'जो'
जेण दे० 'जो'
जेत्तुलो (यावत्) ४०७; ४३५
जेत्थु (=यत्र) ४२२।१२; जेत्थुवि ४०४।१; ४०५
जेप्पि (=जित्वा) ४४०; ४४१।१
जेवँ (=यथा) ३९७; ४०१।४
जेवडु (=यावत्) ४०७
जेहउ (=यावत्) ४२२।१
जेहिँ दे० 'जो'
जेहु (यादृक्) ४०२
जो (यः)—जसु ३६८; ३७०।४; ३८९; ४२२।१५; ४२७; जहे ३५६ जा ३९५।६; जाएँ ३९५।६; जासु ३५८।१; ३९६।३; ४२०।३ जाह(यत्र) ४०९; जाहँ (यत्र) ३५३ जु ३४५; ३५०।१; ३५१।१; ३५४; ३६०।२; ३६७।१; ३८९; ४११; ४१८।२ जं ३५०।१; ४२१; जँ ३५०।२; ३९५।५; जे ३३३; ३६७।२; ३७१।२; ४०९, ४१२; ४२२।३, ४, १४; ४३०; जेण ४१४।१; ४२२।४; जेहिँ ४३९।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो ३३०।४, ३३२।१; ३३८; ३४३।१; (=यस्य) ३७०।४; ३८३।३; ४०१।२; ४२२।६, १३, १६; ४२८; ४४२।२; ४४५।१
जोअण (योजन) ३३२।१
जोअन्ताहं (युद्धयमानानाम् ?) ४०९ (√दृश)
जोअन्तिहें (पश्यन्त्याः) ३३२।२
जोइ ३६४; ३६८ जोइज्जउँ ३५६; जोएदि ४२२।४
जोण्ह (=जोत्स्ना) ३७६।१
जोव्वणि (=योवने) ४२२।६
ज्जि (=एव) ४२३।३

झ

झङ्खइ (= विलपति =झंखना) झङ्खहि ३७९।१; ४२२;
झडत्ति (=झटिति) ४२३।१
झडप्पडहिं ३८८
झलक्किअउ (संतप्त) ३९५।२
झाअइ (= ध्यायति) झाइवि, ३३१; झाएविणु (= ध्यात्वा) ४४०
झिज्जइ (=क्षीयते) झिज्जउँ ४२५
झुणि (= ध्वनि) ३६८; ४३२।१; ४३३
झुम्पडा (=झोंपड़ा-झोंपड़ी) ४१६; ४१८।५

ट

—ट्ठिअहो (स्थितस्य) ४१६
—ट्ठिउ (स्थितः) ४३९।३
—ट्ठय (स्थितः) ४४८

ठ

ठवइ (=स्थापयति) ३५३।३
ठाइ (=स्था) ४३६
ठाउ (=स्थानम् =ठांव) ३३२।१; ३५८।१
ठाणु (=स्थान) ३६२
ठिअं (= स्थितम्) ३७४; ३८१
ठिअउ (= स्थितः) ४१५
ठिआहँ वि (स्थितानामपि) ४२२।७
ठिउ (=स्थितः) ३६१

ड

डज्झइ (= दहति) ३६५।३
डम्बरइँ (= डम्बराणि) ४२०।१
डालइं (=शाखा=डाल) ४४५।३
डिम्भ ३८२
डुङ्गरिहिं (= पूर्वतेषु =डुंगरोंपर) ४४५।१
डोङ्गर (=गिरि)४२२।२

ढ

ढक्क (=ढक्का) ४०६।१
ढक्करि (+ अद्भुत) ४२२।११
ढोल्ला (दुर्लभ-दूल्हा, विट) ३३०।१, २; ४२५

ण

णं (इव) ३८२
ण (=न) ३५०।१ णवि (नापि) ३४०; ३५३; ४३८
णवर (=केवल) ३७७
णाइ (=इव) ३३०।१
णावइ (=इव) ३३१
णिअम्बिणि (= नितम्बिनी) ४१४।१
णिग्गउ (= निर्गतः) ३३१
णिरु (= नितराम्) ३४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिहालहि (=निभालय) ३७६
णिहि (निधि) ४१४।१
ण्हाणु (स्नानम्) ३६६।१; ४१६।२

त

तं (पुंलिंग) ३४३।२; ४२६; (न पुं० और क्रिया वि०) ३५०।१; ३५६; ३६०।२; ३६५।३; ३७१ ३८८; ३६५।७; ४१४।१; ४१८।२; ४१६।२; ४२०।२; ४२२।२; ४२६; ४४६; तसु ३३८; ३४३।१; ३७५; ३८६; ३९६।३; ३६७; ४१०; ४२८; तस्सु ४१९।३; तहं ४२२।३; तहिं ३५७।१; ३८६; ४२२।१४; तहिं ४१९।२; तहें ३५०।१; ३५६; ३८२; ४११; तहें ३५७।२; तहे ३५६; (पा० ४०४); तहों ४२६; ४३२; ताए ३७०; ताण ३३३; तासु ३५८।१; ४०१।४; ताहँ ३५०।२; ३६७।२; ताहं ४०९; ति ३३०।४; ३४४; ३६३; तेँ ४१२; तँ ३३६; ३४३।२; ३७६।२; ४१४।२; ४१७; ते ३३६; ३५३; ३७६।२; ३८३।१; ४०६; ४१२; ४१४।१; तेजि ४०६।२; तेण ३६५।२; तेहिँ ३७०;
तइँ दे० 'तु'
तइं दे० 'तु'
तइजी (तृतीया) ३३६।१; ४११
तइसो (तादृशः) ४०३
तउ (तपः) ४४१।१
तउ दे० 'तु'
तक्केइ तर्कयति ३७०।३
तडति (तट् + इति) ३५२; ३५७।३
तडप्फडइ (=स्पन्दते=तड़फड़ाना) ३६६;
तडि (=तटे) ४२२।१
तणउं (तस्येदम्) ३६१।तणा ३७९।२; ३८०; ४१७।१; ४२२।१५;
तणेण = ३६६।१; ४२५; ४३७;
तणग्रो (=तनयः) ४४७
तणहँ (=तृणानाम्) ३३९।१; ४११;
तणु (तृणम्) ३२६; ३३४
तणु (=तनु) ४०१।२; ४१८।४
तणु (=तन्व्याः) ४०१।३
तत्तस्सु (तत्त्वस्य) ४४०
तत्तु (=तत्र) ४०४
√तर् (=तरति) उद् + √तर – उत्तरइ ३३६
– तरु (तरु) ३७०।१; तरुहुँ ३४०।१; ३४१।२; ४११; तरुहें ३४१।१
तरुग्ररहं ४२२।८
तरुणहो (तरुणाः) ३४६
तरुणिहो (तरुण्यः) ३४६
तलि, तले (तले) ३३४
तवइ (तपति) ३७७; ४०१।५
तवु (तपस्) ४४१।२
तसु (तस्य) ३३८; ३४३।१; ३७५; ३८६; ३६६।३; ३६७; ४१०; ४२८; तस्सु ४१९।३ तहँ (तेषां)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४२२।१२; तहं (तेषां) ४२२।३;
तहां (तस्मात्) ३५५
तहिँ (तत्र) ३५७।१; ३८६; ४२२।१४; तहिं (तस्मिन्) ४१६।२
तहि (तस्याः) ४०४; तहेँ ३५०।१; ३५४; ३५६; ३८२; ४११; तहेँ ३५७।२
तहे ३५६; (पा० ४०४)
ता (=तत्रा) ३७०।१
ताउँ (=तावत्) ४०६।२; ४२३।३
ताए (तया) ३७०।२
ताण (तान्) ३३३
ताम (तावत्) ४०६।१; तामहिँ (तावत्) ४०६।३
तावँ (=तावत्) ३६५।३ ताव ४२२।१७
तासु (=तस्य) ३५८।१; ४०१।४
ताहं (=तयोः) ३५०।२; ३६७।२
ताहँ ४०६
तितुव्वाण (=तिमितोद्वानं=आर्द्र-शुष्कं) ४३१
ति (=ते) ३३०।४; ३६३
तिक्खा (=तीक्ष्णान्) ३६५।१
तिक्खेइ (=तीक्ष्णयति) ३४४
तिण (=तृणम्) ३५८।२; तिणु ३२६
— तित्थ(=तीर्थम्) ४४२।२
तित्थेसरेण (तीर्थेश्वरेण) ४४१।२
तिदस (त्रिदश) ४४२।२
तिदसावास (त्रिदशावास) ४४२।२
तिमिर (तिमिर) ३८१
तिम्मइ (=आर्द्री भवति) ४१८।५
तिरिच्छी (हिं० तिरछी) ४१४।३; ४२०।१
तिल(=तिल) ४०६।२; तिल ३५७।२; तिलहं ४०६।२; तिलतार ३५६
तिलत्तणु (=तिलत्वम्) ४०६।२
तिवँ (=तथा) ३७६।२; ३९५।१; ३९७; ४२२।२; तिवँ तिवँ (तथा तथा) ३४४; ३६७।१; ४०१
तिसहेँ (तृषः) ३९५।७
तिह (=तथा) ३७७
तिहिँ (=त्रिषु) ३४७
तुंबिणिहे (=तुम्बिन्याः) ४२७
तु (=युष्मद्) तइँ (त्वया) ४२२।१४; तइं (त्वया) ३७०।२; तउ (त्वत्) ३७२; तउ (तव) ३६७।१; ४२५; तुज्झ (=तव) ३७२; तुज्झु (तव) ३६७।१; ३७०।४; ३७७; तुध्र (तव) ३७२; तुम्हइं (युष्मान्) ३६६; तुम्हहं (युष्मत् युष्माकम्) ३७३; तुम्हासु (युष्मासु) ३७४; तुम्हेहिँ (युष्माभिः) ३७१।१; ३७८; तुम्हे (युष्मान्) ३६६; तुहुँ (त्वम्) ३३०।२,३; ३६८, ३७०।२; ३८७।३; ४०२; ४२१; ४२५; ४३६।३; तुह (तव) ३६१; ३७०।१; ३८३।१
तुच्छ (तुच्छ) ३५०।१; तुच्छउँ ३५०।१; ३५४; ४११; तुच्छकाय ३५०।१; तुच्छच्छ (तुच्छाच्छ) ३५०।१; तुच्छरा (तुच्छतर) ३५०।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुज्झ दे० 'तु'
तुज्झु दे० 'तु'
तुट्टउ (=त्रुटचतु) ३५६
तुडि (=त्रुटि) ३९०
तुध्र दे० 'तु'
तुम्हइं दे० 'तु'
तुम्हहं दे० 'तु'
तुम्हासु दे० 'तु'
तुम्हें हिं दे० 'तु'
तुम्हें दे० 'तु'
तुलिग्र (=तुलित) ३८२
तुह दे० 'तु'
तुहुं दे० 'तु'
तुहारेण (=त्वदीयेन) ४३४
तृणाइं (=तृणानि) ४२२।१५
तृणु (=तृणम्) ३२९
तँ दे० 'तं'
तें दे० 'तं'
ते दे० 'तं' और 'तु'
तेज्जि दे० 'तं'
तेण दे० 'तं'
तेत्तहें (=तत्र) ४३६
तेत्तिउ (=तावान्) ३९५।७; तेत्तुलो ४०७; ४३५
तेत्थु (=तत्र) ४०४।१; ४०५
तेम्व (=तथा) ४१८।१
तेवँ (=तथा) ३४३।१; ३९७; ४०१।४; तेवंइ ४३९।३
तेवड्ड (=तावान्) ३९५।७; ४०७; तेवड्डउ ३७१
तेहइ (=तथा) ३५७।१
तेहिं (=तादर्थ्ये प्रत्यय) ३७०।१
तेहु (=तादृशः) ४०२
तो दे० 'तु'
तो (=तत्, तदा, तस्मात्) ३४३।२; ३६४; ३६५।३; ३६७।४; ३७९।२; ३९१; ३९५।१; ४०४; ४१७।१; ४१८।४; ४१९।२; ४३९।१; तो वि (=तदपि, तथापि) ३३६; ३४१।१; ३४३।२; ४२२।५; ४२३।४; ४४५।२, ३
तोसिग्र (=तोसितः) ३३१
-त्ति (=इति) ३५२; ३५७।२; ४२३
त्रं (=तद्, तम्) ३६०।१

थ

थक्केइ (=तिष्ठति) ३७०।३
थणंतरू (=स्तनान्तरम्) ३५०।१; थण (=स्तनौ) ३५०।२; ३६७।२; ४१४।१ थणहं (=स्तनयोः) ३९०
थंति (=तिष्ठतः) ३९५।५
थलि (=स्थली) ३३०।४; ३४४; ३६३
थाह (स्ताघ) ४४४।२
थिरत्तणइं (स्थिरत्वम्) ४२२।६
थोवा (स्तोकम्) ३७६।१

द

दंसण (दर्शन) ४०१।१
दंसिज्जन्तु (दश्यंमानः) ४१८।४
दइउ (दयितः) ३४०।१; ४११;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४१४।४
दइएँ (दयितेन) ३३३; ३४२
दइवु (देवः) ३४०।१
दइवें (दैवेन) ३३१
दइवेण (दैवेन) ३८९
दडवड (अवस्कंद = झटपट) ३३०।२
दडवडउ ४२२।१४
दड्ढ (दग्ध) ४२२।५; दड्ढा ३४३
दड्ढ कलेवर (दग्ध कलेवर) ३६५।३
दम्मु (द्रम्मम्) ४२२।१३
दहमुहु (दशमुखः) ३३१
– दाम (दाम) ४४६
दारन्तु (दारयन्) ३४५।१; ४४५।१
दिअहडा (दिवसाः) ३३३; ३८७।२
दिअहा (दिवसाः) ३८८; ४१८।३
दिक्खि (पा० देक्खि) = देखो, ४३४
दिज्जहि (पा० देज्जहि) = देना, ३८३।३
दिट्ठ (दृष्टः, दृष्टा) ४०१।४; ४३२, ४३३
दिट्ठइ (दृष्टे) ३६५।१
दिट्ठउँ (दृष्टं) ३९६।१
दिट्ठउं (दृष्टं) ३७१; दिट्ठउ (दृष्टः) ३५२; ४२९; दिट्ठा (दृष्टाः) ४२२।१४
दिट्ठि (दृष्टिम्) ३३०।३
दिट्ठी (दृष्ठा) ४३१
दिट्ठें (दृष्टे) ४२३।२; दिट्ठे (दृष्टे) ३९६।२
दिणयरु (दिनकरः) ३७७
दिणु (दिनः) ४०१।१
दिण्णा (√दा) = दत्ता ३३३; दिण्णी (= दत्ता) ३३०।१; ४०१।३;
दिण्णु (= दत्तः) ४४४।१;
दिन्तेहिँ (ददतीभिः) ४१९।३
दिवि-दिवि (दिवसे-दिवसे) ३९९।१; ४१९ २
दिवेंहिँ (दिवसैः) ४२२।४; दिवेंहिँ (दिवसैः) ४२२।१३
दिव्वइँ (दिव्यानि) ४१८।३
दिव्वन्तरइं (दिव्यान्तराणि) ४४०।१
दिसि (दिक्) ३६८; दिसिहिं (दिशोः) ३४०।२
दीहर (दीर्घं) ४१४।१; ४४४।३
दीहा (दीर्घं) ३३०।२
दुक्करु (दुष्करम्) ४१४।४; ४४१।१
दुक्ख (दुःख) ३५७।३
दुज्जण (दुर्जन) ४१८।४
दुट्ठु (दुष्टम्) ४०१।१
दुब्भिक्खें (दुर्भिक्षेण) ३८६
दुल्लहहो (दुर्लभस्य) ३३८; ३७५; ४१०
दुहुँ (द्वयोः) ३४०।२
दूअडउ (दूतक) ४१९।१
दूइ (दूति) ३६७।१
दूर (दूरं) ३५३;४२२।७
दूरुक्खुया (दूरोत्क्षिप्ता) ४४८
दूरुड्डाणें (दूरोड्डाणेन) ३३७
दूरे (सं०) ३४९।१
दूसासणु (दुःशासनः) ३९१
देइ (√दा) ४०६।३; ४२०।१; ४२२। १३, १६, ४२३।३
देक्खइ (पश्यति) ३४६; ३६७; ३७६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

देक्खउँ (पश्यामि) ३५७।३; ४२०।१
देक्खि (पा०) ४३४; देक्खु ३४५
३६१; देक्खिवि (दृष्ट्वा) ३५४
देज्जइ (पा० दिज्जइ) √दा, ४३८।१
देज्जहिँ, ४२८; देन्तहोँ, ३७९।८
देन्ति, ४१४।३; देप्पिणु (दत्वा) ४४०
देवं (देवम्) ४४१।१
देस (देशाः) ४२३।१०; देसहिँ ३८६
देसडइ ४१९।२; देसडा ४१८।४
देसि (√दा) ४२५
देसन्तरिअ (देशान्तरिता) ३६८
देसुच्चाडणु (देशोच्चाटनम्) ४३८।२
देहु (√दा) ३८४
दोण्णि (द्वे) ३४०।२; ३५८।२
दोसडा (दोषौ) ३७९।१; ४२६; दोसु
४३९ ३;
द्रम्मु (द्रम्मम्) ४२२।४
द्रवक्कउ (=भयम्) ४२२।४
द्रहि (ह्लदि) ४२३।१
द्रेहि (दृष्टि) ४२२।५

ध

धण (धन्या) ३३०।१; ३६७।४;
४३०।४४४।२; धणि ३८५।१
४१८।३; धणहे ४४५।
१; धणहे ३५०।१; ३५४;४११
धणाइ (धनानि ? घृणायते) ४४५।१
धणु (धनम्) ३५८।२; ३७३; ४४१।१
धम्मि (धर्मे) ४ ९।१
धम्मु (धर्मः) ३४१।३; ३९६।३
धर (धरा = आधारः) ३७७
धर (धरा – पृथ्वी) ४४१।२
धरइ (धरति) ३३४; ४३८।३ धरहिँ
३८२; धरहि ४२१; धरेइ ३३६
धवल (धवल = बलीवर्दः) ४२१ धवलु
(= धौरा) बैल, ३४०।२
धाइ (√धाव्) ४३६
धार (धाराम्) ३८३।२
धुट्ठुअइ (शब्दं करोति = धुधुआना)
३९५।७
धुरु (धुरं) ४२१
धूमु (धूमः) ४१५।१; ४१६
धूलडिआ (धूलिका) ४३२।१; ४३३
ध्रुं (=यत्) ३६०।१; ४३८
ध्रुवु (ध्रुवम्) ४१८।३

न

नं (ननु) ३८२।१; ३९६।५; ४४४
न (न) ३३२।२; ३३५; ३४०।२;
३४१।१; ३४७; ३४९; ३५०;
३५८।२; ३६०; ३६५।१, २;
३६७।१;
३७०।१; ३७६।२; ३८३।१;
३८६।१; ३९०; ३९६।३;
४०१।१; ४०६।१; ४१४।२;
४१६।१; ४१८।१; ४१९।१;
४२०।३; ४२१।१; ४२२।१;
४२३।४; ४२६।१; ४३२;
४३३; ४३४; ४३६; ४४१।१;
४४४।१; ४४५।३
नइ (नदी) ४२२।२
नउ (न तु) ४२३।२; ४४४।१
नच्चावि उ (√नृत्) ४२०।२
नडउ दे० 'विणडउ'

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नडिज्जइ दे० 'विनडिज्जइ'
नन्दउ (नन्दतु) ४२२.१२
नमहु (√नम्) ४४६; नवन्ताहं ३९९; नवहिं ३६७।३
नयण (नयन) ४१४।३; ४४४।३; नयणा ४२२।५
नयण सर ४१४।३; नयणेहिं ४२३।२;
नर (नर) ४१२; ४४२।१; नरु ३६२
नव (नव) ४०१।१; नवइ ३६६।४
नवखी (नवा) ४२०।३; ४२२।१४
नवन्ताहं दे० नमहु
नवर (पा०) ३७७; ४०१।५
नवरि (केवलम्) ४२३।१
नवहिं दे० नमहु
नवि (न + अपि) ३३०।४; ३३९।१; ३५३; ३९५।७; ४०२; ४११; ४२२।१०;
नहेण (नखेन) ३३३; ३४८;
नाइ (नूनम्) (पा०) ३३०; ४४४।२
नाउँ (नूनम्) ४२६
नायगु (नायकः) ४२७
नरायणु (नारायणः) ४०२
नालिउ (= मूढः) ४२२।१३
नाव (नौः) ४२३।१
नावइ (इवार्थे) ४४४।३
नासन्तअहो (√नश्) ४३२
नहिं (नहि) ४१९।४; ४२२।१
नाहु (नाथः) ३६०।१; ३९०; ४२३।३
निअ-(निज-) ३४९।१
निअत्तइ (निवर्तते) ३९५।३
निअन्त (= √दृश्) ४३१
णिअम्विणि (पा० निअम्विणि) ४१४।१
निअय (निजक) ३४४; ३५४; ४०१; ४४१।१
निग्घिण (निर्घृण) ३८३।२
निच्चट्टु (गाढम्) ४२२।३
निच्चल (निश्चल) ४२६
निच्चिन्तइँ (निश्चितम्) ४२२।१५
निच्चु (नित्यम्) ३९५.५
निच्छइँ (निश्चयेन) ३५८।१
निच्छयं (निश्चयम्) ४२२ ९
निज्जिअउ (निर्जितकः) ४०१।२
निज्जिउ (निर्जितः) ३७१
निद्द (निद्रः) ४१८।१; निद्दअए (निद्रया) ३३०।२; निद्दडी (निद्रा) ४१८।१
निन्नेह (निः स्नेहा) ३६७।४
निरक्खय (नीरक्षकान्) ४१८।२
निरामइ (निरामये) ४१४.२
निरुवम (निरुपम्) ४०१।३; ४४४।४
–निवट्टाहं (निवृ॑तानाम्) ३३२।१
निवडइ (निपतति) ४०६।१
निवडण (निपतन) ४४४।२
निवडिअइं (निपतिते) ३५८।२
निवसन्तेँ हिँ (निवसद्भिः) ४२२।१०
–निवहि (–निवहे) ३५७।१
निवाणु (निर्वाणम्) ४१९।२
निवारणाय (सं०) ४४८
निवारणु (निवारणम्) ३९५।७
–निवासहे (–निवासायाः) ३५०।१
निव्वहइ (निर्वहति) ३६०
निसङ्कु (निःसङ्कम्) ३९६।१; ४०१।२
निसिआ (निशिताः) ३३०।४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निहालहि (निभालय) ३७६।१
निहि (निधिः) ४२२।३
निहित्तउ (निहितम्) ३९५।२
निहुअउँ (निभृतकम्) ४०१।४
नीसरहि (निःसरसि) ४३९ ३
नीसावँन्नु (निःसामान्यम्) ३४१।१
नीसासु (निःश्वासः) ४३०
–नेह–(–स्नेह—) ३३२।१; ४०६।२; नेहडा ३५६; नेहहो ४२६; नेहि ४२२।५; नेहि ४०६।२; नेहु ४२२।७;

प

पइँ (त्वया) ३५७।३; ३७०।१; ४२१; ४२२।१; पइँ (त्वयि) ३७०।३; (त्वाम्) ३७०।४; पइं (त्वयि) ३७७; पइं (त्वया) ४२२।११
—पइ (पदे) ४१४।२
पइ-पइ (पदे-पदे) ४०६।१
पइट्ठ (प्रविष्ट) ३४०।१; ४३२; ४३३
पइट्ठउ (प्रविष्टः) ४४४।४
पइट्ठि (प्रविष्टा, प्रतिष्ठिता?) ३३०।३
पइसीसु (प्रवेक्ष्यामि) ३९६।४
पउ (पदम्) ४४२।?
पओहर (पयोधर) ३९५।५; अपोहरहं (पयोधरयोः) ४२०।२
पक्क (पक्व) ३४०।१
पक्खावडिअं (पा०-उं) पक्षापतितम् ४०१।४
पग्गिम्व (प्रायः) ४१४।४
पङ्कइ (पङ्कजे) ३५७।२
पङ्गणइ (पा० प्रङ्गणइ), (प्राङ्गणे) ४२०।२
पच्चलिउ (प्रत्युत) ४२०।३
पच्छइ (पश्चात्) ३६२; ४२०।१
पच्छायावडा (पश्चात्तापः) ४२४
पच्छि (पश्चात्) ३८८
पच्छित्ताइं (प्रायश्चित्तानि) ४२८ पच्छित्तें ४२८
पज्जत्तं (पर्याप्तम्) ३६५।२
पञ्चहँ (पञ्चानाम्) ४२२।१२; पञ्चहिँ ४२२।१२; ४२६; ४३१
पट्टण (पत्तन, ४०७
पट्ठि (पृष्ठम्) ३२९
पठाविअइ (प्रस्थाप्यते) ४२२।६
पडइ (पतति) ४२२।४, १४
पडहिँ (√पत्, पतन्ति) ३८८
पडहु (पटहः) ४४३
पडन्ति (√पत्–पतन्ति) ४२२।१५
पडिअ (√पत्–पतितः) ३३७
पडिउ (√पत्–पतितः) ३३७
पडिपेक्खइ (प्रतिपेक्षते) ३४९।१
पडिबिम्बिअ (प्रतिबिम्बित) ४३९।२
पडिहाइ (प्रतिभाति) ४४१।१
पढ (पठ) ३६४
पणएण (प्रणयेन) ४४६
पणट्ठइ (प्रनष्टे) ४०६।१; ४१८।४,६
पण्णइं (पर्णानि) ४२७
पत्तत्तणं (पत्रत्वम्) ३७०।१
पत्तलु (पत्रम्) ३८७।२
पत्ताणं (पत्ताणाम्) ३७०।१
पत्तु (प्र + √आप्–प्राप्तः) ३३ ।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्तेंहि (पत्रैः) ३७०।१
पत्थरि (प्रस्तरे) ३४४
पन्थि (पथि) ४२९
पन्थिग्रहिं (पथिकैः) ४२९
पफुल्लिअउ (प्रफुल्लित) ३९६।१
पब्भट्ठ व प्रभ्रष्टा–इव) ४३६
पमाणु (प्रमाणम्) ३९९; ४१९।२; ४३८।३
पम्हट्ठउ (प्रमृष्टः) ३९५।३
पय (पद) ४१८।७; ४२०।१
पयइं (पदे) ३९६।१
पयट्टइ (प्रवर्तते) ३४७
पयडा (प्रकटान्) ३३८
पयम्पह (प्र + √जल्प–प्रजल्पत) ४२२।६
पयारेंहि (प्रकाराभ्याम्) ३६७।४
पयासइ (प्रकाशयति) ३५७।१
–पयासु (प्रकाशः) ३९६।५
पर (पर) ३३५; ३४७; ३७९।१; ३९५।७; ३९६।३; ३९७; ४००; ४०६।२; ४१४।३; ४१८।१; ४२०।१; ४३८।३; ४४१।१ परस्सु (परस्य) ३३८; ३५४
परम (परम) ४१४।२; ४४२।१
परमत्थु (परमार्थः) ४२२।८
परमपइ (परमपदे) ४१४।२
पराई (परकीया) ३५०।२; ३६७।२
पराया (परागताः) ३७०।२
परावहिँ (प्राप्नुवन्ति) ४४२।१
परिं (परम्) ३९६।१; ४३७
परिअत्ता (परागताः) ३९५।३
परिविट्ठा (परिविष्टाः) ४०६
परिहणु (परिधानम्) ३४१।२
परिहरइ (परिहरति) ३३४; ३८६
परिहासडी (परिहासः) ४२५
परोक्खहो (परोक्षम्) ४१८
पलु (पलम्) ३९५।७
पलुट्टा (पर्यस्ते) ४२२।५
–पल्लव (सं०) ३३१; पल्लविहि ४१८
पल्लवह (पल्लवयत) ४२०।१
पवसन्ति (प्रवसन्ति) ४२२।११
पवसन्तें (प्रवसता) ४१९।३; पवसन्तेण ३३३
पवासुअहं (प्रवासिनाम्) ३९५।४
पवीसइ (प्रविशति) ४४४।३
पसरिअउँ (प्रसृतकम्) ३५४
पसाउ (प्रसादः) ४३०
पह (पन्थाः) ४१२
पहाउ (प्रभावः) ३४१।३
पहिअ (पथिकः) ३७६।२; पहिआ ४३१; पहिउ ४१५; ४२९; ४४५।१
पहुच्चइ (प्रभवति) ३९०; ४१९।१
पाइ (पादे) ४४५।२
पाडिउ (पातितः) ४२०।२
पाणिउ (पानीयम्) ३९६।४; पाणिऍण ४१८।५; ४३४
पारक्कडा (परकीया) ३७९।२; ३८८; ४१७।१
पालंबु (प्रालम्बम्) ४४६
पालेवि (पालयितुम्) ४४१।२
पाविअइ (प्राप्यते) ३६६।१; ४३७
पाविय (प्राप्ताः) ३८७।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पावीसु (प्राप्स्यामि) ३६६।४; ३६८
पि (अपि) ४१७।६; ४३८।१
पिअ (प्रिय) ३३२।२; [पा० (प्रिअ) ३७०।२] ३७७; ३९६।१; ४१८।३; ४२५; ४३४; ४३६
पिअइ (पिबति) ४१९।१; पिअन्ति ४१९।४; ४२०; पिअवि ४०१।३; पिअहु ४२२।१५
पिअहोँ (प्रियस्य) ४१८।१; पिअहो ४१८।६
पिआस (पिपासा) ४३४
पिउ (प्रियः) ३४३।२; ३५२; ३६७।१; ३८३।१; ३९६।४; ३९८; ४०१।४; ४१४।४; ४१८।२; ४२०।१; ४२४; ४३०; ४३२
पिएँ (प्रिये) ४२३।२
पिएँ (पीतेन) ४३४
पिएं (प्रियेण) ४०१।३; ४४४
पिएँ (प्रिये) ३६५।१; ४२२।११
पिए (प्रिये) ३९६।२
पिएण (प्रियेण) ३७१।२; ४१७
पिएवि (पीत्वेव) (पा० ४०१।३) ४४४।४ (पा० पिअवि)
पिक्खेवि (प्रेक्ष्य) ३४०।२
पिज्जइ (पीयते) ४२३।२
पिट्ठि (पृष्ठम्) ३२९
पिय (प्रियः) ३५०।१; ३८६; ४१८।१
पियस्सु (प्रियस्य) ३५४
पियहोँ (प्रियस्य) ४१६।२
पीउ (√पा–पीतम्) ४३६।२
पीडन्तु (पीडयन्तु) ३८५
पुच्छह (पृच्छथ) ३६४; ४२२।८
पुट्ठि (पृष्ठम्) ३२९
पुणु (पुनः) ३४३।१; ३४६।१; ३५८; ३७०।१; ३८३।१; ३९१; ४२२।८; ४२५; ४२६; ४२८; ४३८।३; ४३६।१; ४४५।३
पुत्ति (पुत्र !) ३३०।३
पुत्तें (पुत्रेण) ३९५।६
पुप्फवईहिँ (पुष्पवतीभिः) ४३८।३
पुरिसहो (पुरुषस्य) ४००
पुहवी (पृथिवी) ४४८
पूरिअ (पूरिता, ३८३।१
पेक्खिवि (प्रेक्ष्य) ४३०
पेक्खु (प्रेक्षस्व) ४१९।४
पेक्खेविणु (प्रेक्ष्य) ४४४।३
पेच्छ (प्रेक्षसे) ३६३; पेच्छइ (प्रेक्षते) ३६९
पेच्छइ (प्रेक्षाञ्चक्रे) ४४७; पेच्छन्ताण (प्रेक्षमाणानाम्) ३४८
पेम्म (प्रेमन्) ४२३।१; पेम्मु ३९५।३
–प्फलइं (फलानि) ४४५।३
प्रङ्गणि (प्राङ्गणे) ३६०।३
प्रमाणिअउ (प्रमाणितः) ४२२।१
प्रयावदी (प्रजापतिः) ४०४
प्रस्सदि (पश्यति) ३९३
प्राइम्व (पा० प्राइवँ), (प्रायः) ४१४।३
प्राइव (प्रायः) ४१४।२
प्राउ (प्रायः) ४१४।१
प्रिअ (प्रियः) (पा० ३७०।२)
प्रिउ (प्रियः), ४३८।१; प्रिय ३८७।३; ४०१।५, प्रियेण (पा० प्रिएण)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३६८;
फ
फल (फल) ३३५
फलइँ ३३६; फलाइं ३४०।१
फलु ३४१।१, २
फिट्टइ (भ्रश्यते) ३७०।१ फिट्टवि ४०६।२
फुक्किज्जन्त (फूत्क्रियमाणाः) ४२२।३
फुट्ट (स्फुटितानि) ३५२
फुट्टणएण ४२२।१७; फुट्टि ३५७।३; फुट्टिसु ४२२।११
फुल्लई (फुल्लति) ३८७।२
फेड (स्फेटयति) ३५८।१
फोडेन्ति (स्फोटयतः) ३५०।२; ३६७।२; ४२२।४;४३०
ब
बइट्ठउ (उपविष्टः) ४४४।४
बइल्ल (बलीवर्दः) ४१२
– बईस (—उपविष्ट) ४२३।४
बद्ध (√बन्ध) ३९९
– बन्ध (—बन्धः) ३८२
बप्पी की (पैतृकी) ३९५।६
बप्पीहा (चातक = पपीहा) ३८३।१,२
बप्पुडा (वराकाः) ३८७।३
बरिहिणु (बर्हीं) ४२२।७
बलि (बलिः) ३८४
बलि (बलि) ३३८; ३८५; ३८९; ४११; ४४५।२
बलिराय (बलिराजः) ४०२
बलु (बलम्) ३५४; ४४०
बलुल्लडउ (बलवत्) ४३०
बलुल्लडा (बलवत्) ४३०
बहि (बहिस्) ३५७
बहिणि (भगिनि) ३५१।१; ४३४
बहिणुएँ (भगिनि) ४२२।१२
बहुअ (बहुक) ३७१; ३७६।१
– बहुलु (—ब्रहुलः) ३८७।२
बालहेँ (बालायाः) ३५०।२; ३६७; बालि ४२२।१४
बाह (बाहुः) ३२६; ४३९।३
बाहा (बाहुः) ३२९
बाहु (बाहुः) ३२९; ४३०
बिट्टिए (पुत्रि ! (भो० बिटिया))३३०।३
बिन्नि (द्वे) ४१८।१
बिम्बाहरि (बिम्बाधरे) ४०१।३
बिहिं (द्वाभ्याम्) ३६७।४
बिहुँ (द्वयोः) ३८३।१
बुड्डिवि (मङ्क्त्वा) ४१५।१
बुड्डीसु (मंक्ष्यामि) ४२३।१
बुद्धडी (बुद्धिः) ४२४
बुद्धी (बुद्धिः) ४२२।१२
बे (द्वे) ३७९; ३९५।३; ४२९; ४३९।१
बेहिँ (द्वयोः) ३७०।३; ३७७
बोड्डिअ (कपर्दिकाम्-बौड़ी) ३३५
बोल्लणउ (कथयिता) ४४३
बोल्लिअइ (कथयति) ३६०।२
बोल्लिअओ (पा० बोल्लिउ) = उक्त ४२२।११
बोल्लिएण (पा० बोल्लिएं) ३८३।२
ब्रुवह (ब्रूथ) ३९१
ब्रोप्पि, ब्रोप्पिणु (उक्त्वा) ३९१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ
– भऍण (भयेन) ४४४।२
भग्गउँ (√भञ्ज्) ३५४
भग्गा (√भञ्ज्) ३५१।१; ३७९।२; ३८०; ३९८; ४१७।१; ४२२।१५
भग्गाइं (√भञ्ज्) ३८६
भङ्गि (भङ्गी) ३२९।१; ४११
भञ्जिउ (भङ्क्तुम्) ३६५।५; ४३९
भड्डु (भटः) ३५७।१
भट्ठु (भटः) ४२०।३
भण (√भण्) ३६७।३; ३७०।३; ४०१।४; ४०४; ४२५; भणइ ३९९
भणन्ति ३७३।१; भणवि ३८३।१; भणिअउ ४०२; भणिय (भणिता) ३३०।३
भण्डय (भण्डः) ४२२।११
भत्ताउ (भक्ताः) ४२२।९
भद्दवउ (भाद्रपदः) ३५७।२
भन्तडी (भ्रान्तिः) ४१४।२
भन्ति (भ्रान्तिः) ३६५।१; ४१६
भमन्ति (भ्रमन्ति) ४२२।३
भमर (भ्रमरः) ३६८; ३८२; भमरा ३८७।२; भमरु ३९७
भमरउल (भ्रमरकुल) ३८२
भमिज्ज (√भ्रम्) (पा० भमेज) ४१८।४
भमिरु (भ्रमणशीलः) ४२२।१३
भयंकरू (भयङ्करः) ३३१
भरिअइ (भृते) ३८३।२; भरिउ (भरितम्) ४४४।३
भरु (भारम्) ३४०।२; ४२१
भरु (भरम्) ३७१
भलि (=निर्बन्धः) ३५३
भल्ला (=भद्रम्) ३५१।१
भल्लि (=भल्ली) ३३०।३
भवँइ (√भ्रम्) ४०१।२
भवँर (भ्रमरः) ३९७
भसणउ (भषिता) ४४३
भसलु (भ्रमरः) ४४४।४
भाईरहि (भागीरथी) ३४७
भारइ (भारते) ३४७
भारह (भारत) ३९९
भालके (भाले) ४४७
भावइ (भावयति) ४२०।२
भिच्चु (भृत्यः) ३४१।१
भुंहडा (पा० भूंहडी) (=भूमिः) ३९५।६
भुअ (भुज) ४१४।१
भुञ्जणहँ (√भुज्) ४४१।१; भुञ्जणहिँ ४४१।१; भुञ्जन्ति ३३५
भुवण (भुवन) ३३१; भुवणे ४४१।२
भोग (भोगम्) ३८९
भ्रन्ति (भ्रान्ति) ३६०।१

म
मं (मा) ३८५; ४१८
मंजिट्ठएँ (मञ्जिष्ठया, ४३८।२
मंडलि (मण्डले) ३७२
मंश (मांस) ४४७
म (मा) ३४६; ३६५।२; ३६८; ३७६।१; ३८४; ३८७।१; ३८८;

४१८।५; ४२०।१; ४२२।४, ११
४४२।१
मइँ ३४६; ३५६; ३७०।३; ३७७;
३६६।३; ४०१।४; ४०२;
४१४।४; ४१८।१; ४२१;
४२२।१; ४२३।१; ४३८।१ मज्झु
३६७।१; ३७९।२; ३८८;
४०१।४; ४१७ मह ३७०।२;
महु ३७०।४; ३७९।१; ३८३।१;
३९१।१; ३९५।५; ४१६;
४१८।२; ४२२।११; ४२६;
४३८।१
मउलिअहिँ ३६५।१
मक्कडु ४२३।३
मग्गणु ४०२
मग्गसिरु ३५७।२
मग्गहु ३८४
मग्गु ३५७।१; ४३१ मग्गेंहिं ३४७
मच्छर ४०४।३
मच्छु ३७०।२; मच्छें ३७०।२
√मज्ज्. मज्जन्ति ३३९
—मज्झहे ३५०।१; मज्झे ४०६।३;
मज्झि ४४४।४
मञ्जिट्ठएँ ४३८।२
मणाउ ४१८।६; ४२६
मणि ४२२।१३
मणिअडा ४१४।२; ४२३।४
मणु ३५०।१; ४०१।४; ४२१;
४२२।८; ४४१।१
मणोरह ३६२; मनोरह ३८८; ४०१।१;
मणोरहइं ४१४।४
मत्तहं ३८३।३
मदि ३७२
√मन दे० माणिअइ
मब्भीसडी ४२२।१६
मयगलहं ४०६।१
मयङ्कु ३९६।१
मयणु ३९७
मयरद्धय ४२२।१४
मयरहरु ४२२।७
√मर्, मरइ ४२०।२; मरहि ३६८;
मराहुं ४३९।१; मरिएव्वउं
४३८।१; मारइ ३३०।३; मारि
४३९।१; मारिअडेण ३७९।२;
४१७; मारिआ ३५१; मारेइ
३३७।१; मुअ ४१९; मुअइ ४४२;
मुआ ४४२।१; मुइअ ३६७।४;
मुएण ३९५।६
मरगय ३४९।२
मरट्टु ४२२।६
मरणु ३७०।४; ४१८।३
मल्ल-जुज्झु ३८२; ४४४
महद्दुम ४४५।३; महद्दुमु ३३६
महन्ति ३५३
महव्वय ४४०
महादहहो ४४४।२
महारउ ३५८।१; महारा ३५१; ४३४
महारिसि ३९९
महिअलि ३५७।२
महि-मण्डलि ३७२
महिहि ३५२
महु-महणु ३८४

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मा ३३०।२, ३; ४१८।४; ४२२।९
√मा, माइ ३५०।१; ४२१; उपमिअइ ४१८।२; विणिम्मविदु ४४६
माणिअइ [√मन] ३८८
माणु ३३०।२; ३८७।१; ३९६।२; ४१०; ४१८।२; माणि ४१८।४
माणुश–४४७
मायहँ ३९९
मारणउं ४४३
मालइ ३६८
माहउ ३५७।२
मिअङ्कु ३७७; ४०१।५; मियङ्कु ४०१।२
मित्तडा ४२२।१
√मिल्, मिलइ ३३२।१; मिलिअ ३८२; मिलिउ ३३२।२; मिलिज्जइ ४३४
√मील्, मेलवि ४२९; उम्मिल्लइ ३५४
√मुच्, मुक्काहं ३७०।१
मुग्गडा ४०६
मुञ्ज ४३६।३
मुञ्जालु ४३६।२
√मुण्, मुणिउ ३४६
मुणाज्झिहे ४४४।१
मुणि ३४१।२; ४१४।२
मुणीसिम ३३०।४
√मुण्ड्, मुण्डिअउँ ३८९
मुण्डमालिएँ ४४६
मुद्द ४०१।३
मुद्ध ३४६।१; ४२२।१७; मुद्धए ४२३।४; मुद्धहें ३५०; मुद्धि ३७६।१; ३९५।२
मुद्धडहे ३५०।१
मुह ३३२।२; ३४९; ३५७।२ ३८२; ३९५।१; ४०१।२; ४१४।१; मुहहुँ ४२२।१५
—मुहुँ ३९७।१; मुहु ४४४।२
मूलि ४२७।१
मेल्लइ ४३०।१; मेल्लन्तहों ३७०।४; ३७७; मेल्लन्तिहें ३७०।४; मेल्लवि ३५३; मेल्लि ३८७।१; मेल्लेप्पिणु ३४१।१
मेह ३९७।४; ४१८।५; ४१९।४
मेहु ३९५।४; ४२२।७
मोक्कलडेण ३९६
मोडन्ति ४४५।३

य

य ३९६।३

र

रक्खइ [√रक्ष्] ४३६।२
रक्खेज्जहु [√रक्ष्] ३५०।२; ३९७।२
रच्चसि ४२२।१७
रडन्तउ ४४५।१
रण ३७०।३; ३७७; ३८६।१; रणि ३६०।१
रण्णडइ ३६८
रत्तडी ३३०।२
रयणाइं ३३४
रयणिअरे ४४७
रयणी ४०१।१
रवण्णा ४२२।१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रवि ४४४।१
रसु ४०१।३
रहवरि ३३१
रहु ४४७
रामहं ४०७
राय ४०२—राय ३५०।१
रावण ४०७
राह ४२०।२
राही ४२२।५
राहु ३८२।१; ३६६।१
रिउ ३७६।१; ३९५।३; ४१६।१
रिद्धिहिं ४१८।६
रुच्चइ ३४१।१
'रुट्ठी' दे० 'रूसइ'
रुण्णु-भुणि ३६८
√रुद्, रुग्रहि ३८१।१; रोइ ३६८
√रुध्, रुद्धी ४२२।१२; ४२९; ४३१
√रुष्, रूसइ ३५८ १; रूसेसु ४१४।४; रूसिज्जइ ४१८।३; रूट्ठी ४१४।४
रुहिरें ४१६
रूग्रउ ४२२।११
रूग्रडउ ४१९।१
रूसणा ४१८।२
रेसि, रेंसि ४२५
– रोमावलिहे ३५०।१
– रोस ४३९।३ (सरोस)

ल

लउ ४१४।२
– लक्खु ३३२ लक्खेंहिं ३३५
√लग, लग्गइ ४२०।३; ४२२।६; लग्गिवि ३३९; लग्गा ४४५।१ विलग्गी ४४५।२
लच्छि ४३६
√लज्ज, लज्जिज्जइ ४१९।३,३५१ लज्जिजन्तु ३५१
√लभ्, लब्भइ ४१९।२; ३३५।१ लहन्ति ३४१।२; ४१४।२ लहइ, लहन्तु ३९५।१; लहहिं ३६७।३; ४४०, १; लहहि ३८३।२; लहहुँ ३८६।१; ४११
लहुई ३८४
लाइवि ३३१; ३७६।२
– लायण्ण ४१४।१
लालसउ ४०१।१
लाहु ३९०
लिम्बडइ ३८७ २
लिह ३२९
लिहिग्रा ३३५।१
लीह ३२९
लुक्कु ४०१।२
लेखडउ ४२२।६
लेप्पिणु ३७०।३; ४०४।१; ४०५
लेवि ३९५।१;४४०।१; लेविणु ४४१।२
लेह ३२९
लेहिँ ३८७।३
लोग्रण ४१४।१; लोग्रणइँ ३६५।१; लोग्रणहँ ३४४।१; लोग्रणेंहि ३५६; ४२२।१४
लोग्रहो ३६५।१; लोइ ४३८।२; लोउ ३६६; ४२०; ४२२।१८; ४४२। २; ४४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोणु ४१८।५, ४४४ ३
लोहें ४२२।१७
ल्हसिउं ४४५। २

व

व ४३६
वक्कलु ३४१।२; ४११
वग्ग ३३०।४
वङ्कहिं ३५६, वङ्का ४१२।१
वङ्की ३३०।३
वङ्किम ३४४।१
वङ्कुडउ ४१८।६
वच्छहु ३३६; वच्छहे ३३६
वज्जइ ४०६।१
वज्जणउ ४४३
वज्जमा ३६५।५
वज्जेइ ३३६
वञ्चयर ४१२।१
– वञ्चिउ ३९५।३
वडवानलस्सु ३६५।२
वड्डत्तणउं ३८४; वड्डत्तणहों ३६६, ४२५, ४३७; वड्डप्पणु ३६६; ४३७; वड्डा, वड्डाइं ३६४
वणि ३४०।१; ४११, वणेहि ४२२।१०
वणवासु ३९६।५
– वणु ४०१।३
वणेहि दे० वणि
वण्ठो ४४७
• वण्णिअइ ३४५
वत्तडी ४३२
वद्दलि ४०१।२
✓वन्द्, वन्देइ ४२३।३
वम्महु ३४४, ४०१
– वयणु ३५०।१
वयणाइं ३४०।१; वयणु ३६७।१
– वरहो ४४४।३—वरें हि ४२२।१०
वरि ३४०।१
वरिस ३३२।१; ४१८।३
वलाहु ३८६।१; ४२६
वलणाइं ४२२।२
वलन्ति ४१६; वालिउ ४१८।५
वलय ४४४।२; वलया ३५२
वल्लह ४४४।२; वल्लहइ ३८३।१; वल्लहउँ ३५८।२; ४२६
ववसाउ ३८५
वशाहे ४४७
✓वस्, वसन्ति ३३६।१; निवसन्तें हिं ४२२।१०; पवसन्ति ४२२।११; पवसन्तें ४१६।३; पवसन्तेण ३३३, ३४२
वस ४२२।१३; वसि ४२७; वसिएण ३८७।१; वसें ण ३६०
✓वह्, वहइ ४०१।१; वाहिउ ३६५।३; निव्वहइ ३६०
वहिल्लउ ४२२।१
वहु ४०१।१
वाएँ ३४३।१
वाणारसिहिं ४४२।१
वायसु ३५२
वार ३८३।२; ४२२।११
वारि ४३६
वारिआ ३३०।२; संवरेवि ४२२।५
वालइ ३३०।४

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वालिउ ४१८
वासारत्ति ३९५।४
वासु ४३०।१
वासेण ३९९
वि [अपि] ३३२।१, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३४१।१, ३४३।२, ३४७, ३४९।१, ३५८।१, ३६५।२, ३६६, ३६७।४, ३७०।१, ३७६।२, ३७७।१, ३८३।१, ३८७।२, ३८९, ३९५।१, ३९९, ४०१।२, ४०६।३, ४११, ४१४।२, ४१८।१, ४१९।४, ४२२।१, ४२३।३, ४३२, ४३३, ४४१।२, ४४५।२
विअालि ३७७; ४०१; ४२४
विइण्णु ४४४।१
विअोइ ३६८; विअोएँ ४१९।३
विगुत्ताइं ४२१।१
विच्चि ३५०।१; ४२१
विच्छोडं‌व ४३९।३
विच्छोह-गरू ३९६।१
विट्टालु ४२२।३
विढत्तउँ ४२२।४
विणासहोँ ४२४
विणु ३५७।३; ३८६; ४२१; ४२६; ४२१।२
वित्थारु ३९५।७
विद्दवइ ४१९।१
विन्नासिअा ४१८।१
विप्पिअ-अारउ ३४३।२
विप्पिय ४२३।१
विमल ३८३।२
विम्हहइ ४२०।२
विरला ४१२
विरह ४१५; ४२६; ४४४।२; विरहहो ४३२ विरहु ४२३।३;
विरहिअहं ३७७
विलम्बु ३८७।२
विलासिणीअोँ ३४८।१
विलिज्जइ ४१८।५
विवइ ४००
विवरीरा ४२४
विसगण्ठि ४२०।३; ४२२
विसण्ठुल ४३६
विसम ३५०।२;३६७; विसमा ३९५।४; विसमी ४०६।३
विसहारिणी ४३९।२
विसाउ ३८५।१; ४१८
विसाहिउ ३८६; ४११
विसिट्ठु ३५८।२
विसूरइ ३४०।२; विसूरहि ४२२।२
विहलिअ ३६४
विहवि ४१८।६; विहवे ४२२।६
विहसन्ति ३६५ १
विहाणु ३३०।२; ३६२; ४२०
विहि ३८५; ३८७।१; ४१४।१
वीण ३२९
वीस ४२३।४
वीसरइ ४२६
वुञ्जॅप्पि, वुञ्जेप्पिणु ३९२
वुत्तउं ४२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वुन्नउँ ४२१
वेउ ४३८।३
वग्गला ३७०।४
वेच्चइ ४१६।१
वेण ३२६
वेरिअ ४३६।१
वेस ३८५
व्रतु ३९४
व्रासु ३९९।१
शंचिदे ४४७
शद ४४७
शहश्र ४४७
संकडु ३९५।४
संकरु ३३१
संखहं ४२२।३
संगमि ४१८।१
सगर ३४५।१
संघहो ४३४।१
संचि ४२२।४
संदेसडा ४१६।३; संदेसें ४३४
संधिहिँ ४३०
संपइ ३३५।३७२; ३८५; ४००
संभवहो ३९५।३
संमाणेइ ३३४।१
संमुह ३९५।५; ४१४।३
संवरेवि ४२२।५
संवलिअं ३४६।२
संसित्तउ ३९५।२
स ३७०।२; ४१४।१; ४२६
सइं ३३६; ४०२
सइ ३९५।२; ४३०
सउणाहं ४४५ ३; सउणिहं ३४०।१
सएण ३३२।१; सएँहिँ ३४५।१
सकण्णी ३३०।३
सक्कइ ४२२।५; ४४१।२ [√शक्]
सज्जणहं ४२२।७; सज्जणु ४२२।१६
सज्झु ३७०।४
सत्थ ३९६।२; ४२२।१६
सत्थरि ३५७।२
सत्थहिं ३५८।१
सत्थावत्थह ४२२।१६; सत्थावत्थेहिं ३९६।२
सदोसु ४०१।४
सन्ता ३८६;
सन्तिं ४४१।२
सबधु ३९६।३
सभलउँ ३९६।३ [पाठ० सभलुज]३९७
समत्तहं ४०६।१
समत्तु ३३२।२; ४२०
समप्पइ ४२२।४; समप्पउ ४०१।१;
समर—३७१; समरङ्गणइ ३९५।५
समाउलेण ४४४।१
समाणु ४१८।२; ४३८।३
सय ४२२।११
सयल (—घर) ४४१।२
सयवार ३५६; ४२२।११
सयाइं ३५७।३; ४१८।३
सरइं ३६५।१
सर ३८४; ४१४।३; सरउ ३५७।२
सरवरेहिं ४२२।१०
सरसि ४४८
सरला ३८७।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरावि ३६६।४
सरिए-सरु ३५७।१
सरिसिम ३९५।१
सरिहिं ४२२।१०
सरेहिं ४२२।१०
सलिल ३९५।२
सलोणी ४२०।३; सलोणु ४४४।३
सल्लइउ ३८७।१; सल्लइहिं ४२२।८
सव्व ४२२।५; ४२९ सव्वु ३६६;
४३८।२
सव्वङ्ग ४१२।१; सव्वङ्गाउ ३४८;
—सव्वङ्गे ३६६।४
सव्वायरेण ४२२।५
सव्वासण ३९५।३
ससणेही ३६७।४
ससहरु ४२२।७
ससि ३८२।१; ३९५।१; ४१८।६
ससिरेह ३५४।१
सह ३३६
सहसत्ति ३५२
सहहिं ३८२
सहाव ४२२।१७
सहि ३३२।१; ३७९।२; ३९०; ३९८;
४०१।४, ४१४।३; ४१७;
४४४।४; सहिए ३५८।१; ३६७।१
सहुँ ३५६; ४१९।३
सहेसइ ४२२।१७; सहेव्वउं ४३८।२
सा ३६८; ४३९।२
सामन्नु ४१८।६
सामला ३३०।१
सामलि ३४४
सामि ३३४; ४३०; समिग्र ४२२।९;
—सामिग्रहो ३४०।२; सामिउ
४०९; सामिहुँ ३४१।२
सायरहो ३९५ ७; ४१९।४; सायरि
३८३।२; सायरु ३३४
सार ४२२।११
सारस ३७०।४
सारिक्खु ४०४।१
सारु ३६५।३
साव ४२०।३
सावणु ३५७।२; ३९६
सास ३८७।१; ३९५।२
साहु ३६६।१; ४२२।१६
सिक्खन्ति ३७२।१; सिक्खु ४०४;
४०५;
सिक्खेइ ३४४
सिङ्गहुं ३३७
सिद्धत्था ४२३।३
सिम्भो ४१२
सिरम्मि, सिरसि, ४४८; सिरि ४२३।
४; ४४५।३; सिरु ४४५ सिरे
४४८
सिरि ३७०।३; ४०१।३
सिल ३३७
सिलायलु ३४१।१
सिवतित्थ ४४२।२
सिवु ४४०
सिसिर ४१५
सिहिकढणु ४३८.२
सीग्रल ४१५; सीग्रला, सीग्रलु ३४३।१
सीमा ४३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सील ४२८

सीसि ४४६ सीसु ३८९

सीह ४०६।१ सीहहों ४१८।२

सीहु ४१८।२

सु ३६७।१; ३८३।३;४१४।१;४१८।५; ४२२।१५

सुअ ४३२

सुअरणस्सु ३३८; ३८५; ३८९; ४११; ३३६; ४०६; सुअरणेंहि ४२२।१०

सुअहिं ३७६।२; ४२७

सुइएान्तरि ४३४

सुइसत्थु ३९९

सुकिउ, सुकिदु, सुकृदु ३२९

सुक्कहिं ४२७

सुक्खु ३४०।१

सुघिं ३९६।२ सुवें ४१०

सुट्ठु ४२२।५

सुएाउ ४४३

सुन्दर ३४८

सुपुरिस ३६७।३; ४२२।२

सुभिच्चु ३३४

सुमरणु ४२६

सुमरहि ३८७।३, सुमरि ३८७।१;

सुमरिज्जइ ४२६

सुरउ ३३२।२; ४२०

सुवंसहं ४१९।१

सुवण्णरेह ३३०।१

सुहच्छडी ४२३।२

सुहच्छिअहिं ३७६।२; ४२७

सुहच्छी ३५७।२

सुहय ४१९।३

सुहासिउ ३९१

सुहु ३७०।३; ४४१।१

सूअ ४४८

सेल्लु ३८७।३

सेवइ ३९६।५

सेहरु ४४६

सो ३३२।१; ३४०।१; ३६७।१; ३७०।४; ३८४; ३६०; ३९५।७; ४०१।१; ४२०।३; ४२२।६,१३; ४२९; ४३८।३; ४४२।२; ४४५।१

सोएवा ४३८।३

सोक्खहँ ३३२।१

सोमग्गहणु ३६६।१

सोसउ ३६५।२

सोह ३८२; सोहइ ४४४।४; सोहीअ ४४७

ह

हउं ३३८; ३४०।२; ३७०।२; ३७५; ३७९।१; ३६१; ४१०; ४११; ४२०।१; ४२२।११; ४२३।१; ४२५; हउ ४३९।३

हएइ ४१८।२

हत्थडा ४३६।१; हत्थडउ ४४५।२

हत्थहिं ३५८।१

हत्थि ४४३

हत्थु ४२२।८; हत्थि ३६६

हयविहि ३५७।३

हयास ३८३।१

हराविअा ४०६

हरि ३९१; ४२०।२; ४२२।५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

·CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिणाइं ४२२।१५
हलि ३३२।२; ३५८।१
हल्लोहलेण ३६६।२
हसन्तु ३८३।३; हसिउँ ३९६।१
हिअइ ३३०।३; ३९५।४; ४२०।१; हिअउँ ३७०।२; हिअडउँ ३५०।२; ४३०; हिअडा ३५७।३; ४२२,११।१७; ४३६।१; हिअय ४३९।३; हिआ ४२२।२
हुंकारडएँ ४२२।१५
हु ३९०
हुआ ३५१; हूआ ३८४
हुहुरु ४२३।१
हूअउ ४२२।१३
हूआ ३८४
हेट्ठ ४४८
हेल्लि ३७९।१; ४२२।११
होइ ३३०।२; ३४३।१; ३६२।१ ३६७।१; ३७७; ३९५।२; ४०१।१; ४०२; ४२०; ४२२।७; ४२३।२; ४२४; ४३०; ४३८।२
होउ ४२०।२
होज्ज ३७०।१
होन्तउ ३५५; ३७२; ३७३; ३७९; ३८०
होन्ति ४०६।२; ४२२।१०
होसइ ३८८।१; होसहिँ ४१८।३; होसहिँ ३८८।१; ४१८
होहिइ ३८८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बक्स १०८, कचौड़ीगली
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi